



DURGA DEVI MUNICIPAL LIBRARY

MAINI TAL

दुर्गा देवी नगरपालिका पुस्तकालय
मैना ताल

Class No. 920...

Book No. J22Y

Reg. No. 3843

जैनेन्द्र-साहित्य (११)

ये और वे

[व्यक्तित्व संस्मरण]

•

जेनेन्द्र

पूर्वोदय प्रकाशन

७ हरिभागंज, दिल्ली

स र्वा धि का र सु र चि त
प्रथम संस्करण
१९५४

मूल्य : तीन रुपये बारह आने

गोपीनाथ सेठ द्वारा नवीन प्रेस, दिल्ली में मुद्रित और पूर्वोक्त प्रकाशन,
दिल्ली की ओर से दिलीपकुमार द्वारा प्रकाशित ।

अनुक्रम



रवीन्द्रनाथ ठाकुर	- - -	१
प्रेसचन्द्र : मैंने क्या जाना और पाया	- - -	१७
मैथिलीशरण गुप्त	- - -	७२
जयशंकर प्रसाद	- - -	८४
शुक्लजी की सामाजिक भूमिका	- - -	३४
शरच्चन्द्र चट्टोपाध्याय	- - -	१०७
महादेवी वर्मा	- - -	१२२
महात्मा भगवानदीन	- - -	१३२
माताजी	- - -	१३८
जैनेन्द्रकुमार की मौत पर	- - -	१५१
बेहरू और उनकी कहानी	- - -	१५६
महात्मा गांधी	- - -	१७७



रवीन्द्रनाथ ठाकुर

प्रश्न—रवीन्द्रनाथ ठाकुर के नाम और साहित्य से आप कब और कैसे परिचित हुए ?

उत्तर—छोटपन से ही नाम सुनता और चित्र देखता आया था। कहा ही नहीं जा सकता कि नाम का परिचय पहले कब हुआ। होश आया, तब से ही वह नाम परिचित रहा है। नोबल-पुरस्कार पाते ही इस नाम की दुनिया में धूम हो गई। मैं तब बच्चा ही था और अक्षरारम्भ में था। उनका आविष्कार मुझे नहीं करना पड़ा जैसे कि और लेखकों के नामों के सम्बन्ध में हुआ। आदि दिन से जैसे सूरज और नौद देखते हैं वैसा ही रवि ठाकुर के बारे में हुआ। अस्त का तो पता चला, उदय की खबर नहीं। मैंने तो उन्हें मथ्याह्न में ही पाया।

नाम के साथ ही 'गीताञ्जलि' का नाम परिचित हो गया। पूरी पुस्तक उनकी पहले-पहल कब और कौन-सी पढ़ी याद नहीं, पर उनकी कहानियाँ वहाँ-वहाँ काफ़ी छोटेपन में सामने आ गई थीं। उनके बारे में पढ़ने को किताबों और अखबारों में हर जगह मिलता रहता था। छठी-सातवीं में पढ़ता था तब अंग्रेज़ी में 'काबुली वाला' कहानी देखने की याद है।

प्रश्न—कभी आपको उनसे मिलने की उत्सुकता भी हुई ?

उत्तर—उत्सुकता तो क्या कहूँ क्योंकि मेरी कल्पना उतनी ऊँची न जाती थी। वह तो मनोलोक के देव-पुत्र थे, मैं हीनता से दबा था। पर

मिलने का अवसर ऐसे आ गया कि पता ही न चला। भाग्य बेपता ही रहता है। पहली बार सन् ३०-३१ में भेंट हुई।

प्रश्न—यह भेंट किस प्रकार हुई ?

उत्तर—बनारसीदास चतुर्वेदी को आप जानते होंगे। हिन्दी के साहित्य-क्षेत्र का उन्हें प्रहरी ही कहिए या दादा-गुरु कह दीजिए। अनोखे पुरुष हैं। 'विशाल-भारत' के वह सम्पादक थे और नई-नई चर्चाएँ उनके पत्र से आरम्भ होती थीं। प्रवासी भारतीयों के बारे में उन्होंने कोई वक्तव्य दिया, जो तब की सरकार को अनुकूल न प्रतीत हुआ। अभ्यर्थना के साथ वातचीत और मुलाकात के लिए उन्हें राजधानी दिल्ली बुलाया गया। मैं जेल काटकर तब दिल्ली लौट आया था। गांधी-इरविन-पैक्ट हो गया था और जेल से छुटकारा कुछ पहले ही मिल गया था। यहाँ दादा-गुरु मिले और बोले—'देखो जी, यह जो इन लोगों ने डबल फर्स्ट क्लास का फ़ालतू पैसा दे दिया है उसका एक यही न उपयोग हो सकता है कि जितने बन सकें हिन्दी साहित्यिकों को कवि-गुरु से भेंट कराने के लिए ले जाऊँ। यह दूरी अच्छी नहीं है। और कवि ठाकुर की वय काफ़ी है। इतना बड़ा पुरुष भारत को मिला है और हम हिन्दी-वालों को समय रहते उनका लाभ ले लेना चाहिए। अब तुम कहो, चलोगे न...लो मैं भी उलटे पूछने लगा...कहता हूँ चलना होगा तैयार हो जाओ।'।

दादा-गुरु की यही विशेषता है। बात ऐसे बेग से सिर पर गिराते हैं कि इधर-उधर के लिए अवसर ही नहीं छोड़ते। उस प्रसंग को मैं याद नहीं करना चाहता। क्योंकि बातों-बातों में एक चोट की बात मैंने उन्हें फह दी और उन्हें रुठा दिया था। पर उससे क्या होना-जाना था। दादा की बदाम्यता पर उसका असर क्या पड़ता था। उन्होंने अपने अर्थ-कष्ट की बातें सुनाईं। कर्ष होने का जिक्र किया और कहा, 'जैनेन्द्र, देखो, इस डबल फर्स्ट क्लास के मिले पैसे का बताओ क्या करूँ। और तुम नये हो। आओ चलो! रवि ठाकुर के दर्शन से कुछ पाओगे ही।'।

यह कृपा उलटी थी, अयाचित ही नहीं बलात् सिर पर आई। मैं

अपनी हीनता से शायद न उभर पाता पर बनारसीदास जी के सद्भाव का वेग अनिवार्य था। ऐसे में कलकत्ता पहुँचा और फिर बनारसीदास जी के संरक्षण और नेतृत्व में शान्ति-निकेतन कवि-गुरु के चरणों में। साथ माखन-लाल चतुर्वेदी, सुदर्शन जी, सत्यवती मलिक और दूसरे लोग थे।

प्रश्न—आपको कवि-गुरु कैसे लगे ?

उत्तर—जैसे हिम-शिखर, धवल और तुंग। वैसे ही निर्मल और विरल।

प्रश्न—आपकी उनसे कुछ यातचीत भी हुई ?

उत्तर—वह तो होती ही। भेंट में चुप थोड़े ही बैठा रहा जा सकता है। लेकिन उस सब का तो पूरा स्मरण नहीं।

प्रश्न—क्या कुछ भी स्मरण नहीं ?

उत्तर—नहीं, स्मरण है। पारिपार्श्विक कुछ तो ध्यान में अटक रहा गया है। बनारसीदास जी सच्चिन्त थे। वह मानो हमें तीर्थ पर ले जा रहे थे, जीवित-तीर्थ। रवि-ठाकुर के बँगले का नाम उत्तरायण था। पास ही कवि ने तभी-हाल 'शामली' शीर्षक देकर मिट्टी की कच्ची कुटिया बनवाई थी। बँगला छोड़ उनका उसी में रहने का विचार था। उत्तरायण के हाते में प्रवेश करने पर राह चलते हुए बनारसीदास जी बार-बार चिहँकते कि हमारे जूतों की आवाज कर्कश भाव से तो कवि के कानों तक न पड़ेगी। और वह हँसते पाँव रखते और चाहते कि हम सब आवाज बचाएँ। कभी वह सोचते, कवि का मूड कैसा होगा। उनके लेखे 'मूड' सब-कुछ था। और वही असल तत्त्व होता है। कहीं आराम न कर रहे हों ? और जो व्यग्र हुए तो ? और कहीं प्रसन्न मिल जायें तो बात ही क्या है। उनकी मानो एक भक्त की-सी स्थिति थी, जिस पर पौरोहित्य का काम आ पड़ा हो। मेरा जूता देसी था, और चूँ-चूँ किए बिना न रहता था। कवि का डर पीछे हो, दादा का डर साथ और सामने था। पाँव कितने ही हँसते रखता। देसी जूता अपनी आन न छोड़ता था। बिना बोले रहता न था। ऐसी हालत में हम बरामदे में पहुँच गए। वहाँ कुरसियाँ और मूँडे पड़े थे, बाकी कोई न

था। एक-दो-तीन मिनट हो गए। क्या सूचना नहीं दी गई, या हम बेवकूफ हैं? दादा का एक पैर टिकता तो दूसरा उठता। कहीं विश्राम न कर रहे हों? क्या आवश्यक है कि उन्हें कष्ट ही दिया जाय? फिर न देखा जाय, और अभी लौटकर ही चला जाय...कि इतने में बराबर के कमरे से आवाज आई। बंगाली बोली थी और एक ओर से शब्दों का उच्चारण महीन न था। मालूम हुआ, माली है। साक-सब्जी की कुछ बातचीत है। माली बेधड़क है और बेखौफ और स्वयं कवि-गुरु के समक्ष। 'हम खाली बरामदे में खड़े ही रहे। विमूढ़ कि कर्तव्य क्या है? हो सकता है कि पाँच से आगे सात मिनट भी हो गए हों। मैंने सोचा कि कुछ होना चाहिए। हलके से सुझाया कि कुछ करना चाहिए। कवि पीछे खिन्न हो सकते हैं कि हम लोगों के आते ही उन्हें सूचना क्यों नहीं दी गई। यदि जानें कि हम बाहर व्यर्थ प्रतीक्षा में खड़े रहे तो उन्हें कष्ट हो सकता है। इस अन्याय से उन्हें बचाना चाहिए। अपने लोगों की आतुर स्तब्धता मुझे समझ न आ रही थी। मैंने जैसे कदम बढ़ाया कि चार डग भरकर दरवाजे पर पहुँचकर कहूँ कि बाहर हिन्दी के अभ्यागत आ गए हैं। कठिनाई से एक कदम रखा होगा कि कवि दरवाजे से बाहर आए। धीमे और स्थिर कदम, कन्धे बारा आगे को मुके हुए, बदन शुभ्र, ढीली पोशाक, नीचे जुन्नट से लटकी धोती। पाँच में विद्यासागरी चप्पल।

कुछ देर स्तब्ध असमझ रह आ। कवि बढ़ते हुए आए। कुरसी के पास तक आ गए तब हम लोगों ने बारी-बारी से बढ़ कर चरखस्पर्श किए।

वह कुरसी पर बैठ गए। और बनारसीदास चतुर्वेदी ने सब का परिचय कराया। बात हँसी-खुशी के साथ मुक्तभाव से लहराती-सी चलने लगी। कवि हिन्दी समझ लेते थे लेकिन बोलते अंग्रेजी में, जो हम सब समझ पाते थे। हिन्दी के बारे में उन्होंने कहा—'क्या आप यह नहीं चाहेंगे कि हिन्दी के निकट मैं किसी राष्ट्रीय कर्तव्य की प्रेरणा से नहीं; बल्कि स्वतः रस-लाम और आनन्दलाम की दृष्टि से आया हूँ। राष्ट्रभाषा तो है, पर आप हिन्दी बालों को इतने से सन्तोष क्यों हो जाना चाहिए? संख्या के बल पर उसे

नहीं टिके रहना है। रस और आनन्द की उपलब्धि के लिए उधर जब आप ही लोग खिन्नें तब उसका मान स्वप्रतिष्ठ मानना चाहिए।'

कहते समय उनकी दृष्टि किसी विशेष की ओर नहीं होती थी। अधिकांश नीचे को देखते थे या किसी प्रश्न पर प्रश्नकर्ता की ओर निगाह उठी तो आँखें मानो थोड़ा मुस्कराकर वहाँ से हट जाती थीं। अपनी कहानी सुनाते हुए कहने लगे : 'मेरी तो विवशता थी। बँगला की परम्पराएँ बनी तो थी नहीं, बन रही थीं। पर संस्कृत का भण्डार भरा था ही। इससे हम झट उसका सहारा ले-लेते थे। वहाँ शब्दों का कहाँ अन्त, कहाँ उनही थाह; पर हिन्दी में तो इतना सन्त-साहित्य पड़ा है ! अनेक देशज-शब्द हैं या संस्कृत से आकार बन-संवर गए हैं। हिन्दी तो उस सम्पदा से भर-पूर है। वह अधिक लोक-सुलभ हो सकती है।'

बनारसीदास जी ने कहा कि लेखकों को कुछ सन्देश दीजिए। किंचिद् असमन्वस में रहकर बोले—'लिखने में लेखक को साफ होना चाहिए—सादा और सीधा। अंग्रेजी के शब्द थे Straight, Simple, & Direct.,

में तल्लीनता से मुन रहा था। बोला—'आपने Direct कहा और सिम्पल भी। आप की भाषा तो अलंकृत लगती है और गूढ़। सीधी कहाँ ? उसमें तो फेर और पेंच दीखते हैं।'

यह मैंने क्या किया ? जैसे मारी पाप किया हो। धृष्टता और असह्य क्या होगी। सामने बनारसीदास जी अकुला आए। उनकी आँखों में मानो मेरे लिए लज्जा थी और भर्त्सना।

मुँह से बात निकल तो गई, पर मैं बेहद सहम आया। मेरा बचपन ही रहा होगा। कवि के प्रति मेरा मन आस्था और सम्मान से भरा था। अनास्था का कहीं क्षण भी न था। इसलिए वह भूल थी। इसलिए वह भूल थी तो व्यवहार की ही थी और किसी और की श्रुति न थी।

जान पड़ा कि बनारसीदास जी भर्त्सना का भाव अन्दर ही रोक कर नहीं रह सकते। उन्होंने फटकार में कुछेक शब्द कहे भी। स्पष्ट था कि समुदाय के अन्य जन भी उनसे असहमत नहीं हैं। लेकिन तभी सब

असमञ्जस और द्विधा को काटती हुई कवि की वाणी उठी। एक-एक शब्द स्पष्ट था। स्वर स्थिर और गति मन्थर। बोले—“Yes I want you not to follow me. I want you to follow one. I want you to follow yourself.” (हाँ, मैं नहीं चाहता कि आप मेरा अनुकरण करें या अनुकरण किसी का भी करें। अनुकरण करना है आपको तो अपना।)

कहते समय किसी विशेष की ओर नहीं देख रहे थे। चेहरे पर सचाई और संलग्नता थी। मैं उसमें सब उत्तर पा गया। कहीं उन शब्दों में आत्म-समर्पण न था, न आत्मरक्षा का प्रयत्न था और न आत्म-व्याख्या का प्रयत्न था। किंचित् भी रोष की ध्वनि न थी। वाणी की उस संलग्नता पर सहसा औरों का विभाव भी शान्त हुआ।

याद है इसके बाद हल्की-फुल्की बातचीत हो आई। मैं बार-बार उनके चेहरे को देखता था। भाल पर रेखाएँ थीं फिर भी कहीं से वह कुञ्चित न था, कान्तिमान था। चेहरा सर्वथा निर्दोष प्रतीत हुआ, मानो मनुष्य से अधिक देव-मूर्ति का हो। भव्यता इतनी नितान्त निर्दोष हो सकती है। सहसा यह विस्मयनीय न जान पड़ता था। हठात् मैं मानता था कि कहीं कुछ मिश्रण होना ही चाहिए। इतनी निर्दोषता—मनुष्याकृति सहज बहन कैसे कर सकती है? किन्तु चेहरे को बारीकी से देखकर भी त्रुटि वहाँ कहीं मैं धर नहीं पाता था। सोचा चेहरे के निम्नार्ध में हो-न-हो कुछ मिलावट हो सकती है और दाढ़ी उसे हम से बचाए रखती है। सच तो अकेला होता नहीं, रजस और तमस भी साथ होता है। प्रकृति तभी बनती है, लीला अन्यथा सम्भव नहीं। किन्तु कृष्ण ने गीता में कहा, ‘निस्त्रैगुण्यो भवाञ्जुन’। तो क्या निस्त्रैगुण्यता वहाँ है? मानो मैं आशा से उस चेहरे पर बार-बार खोजता और बार-बार निराशा पाता रहा। त्रिगुणात्मिका प्रकृति को प्रतीति में लाना सहज है। निस्त्रैगुण्य कल्पनीय ही है, सहज प्रत्यय आने वाली वस्तु नहीं। मैं नहीं मान सकता था कि वह देवता हैं क्योंकि मनुष्य होना उससे बड़ी बात है। देवत्व सहज कमनीय है। पुरुषत्व पुरुषार्थ द्वारा ही माध्य है। इससे मैं

देवता नहीं चाहता था। पर समक्ष देवोपमता के अतिरिक्त कुछ मिल ही न रहा था.....

मुलाकात खत्म हो गई। कवि उठकर हमारा नमन स्वीकार कर आशीर्वाद देते हुए हम से मुड़े और हम लोग भी वापस हो लिए। अब बाधा न थी। और चतुर्वेदी जी ने मुझे आड़े-हाथों लिया। मेरी निगाह में वह चेहरा था जो बात करते समय नीचे देखता था, पर जो मैं जानता था कि बन्द आँखों से सब देखता था।

मुझे याद नहीं पड़ता कि फिर मैंने किसी बात का कुछ जवाब दिया। चार-एक दिन हम वहाँ रहे। समारोह और खुले सभास्थलों में उन्हें देखा। बोलते तो ध्यान मानो भृकुटियों के मध्य आ केन्द्रित होता और दृष्टि नामात्र पर स्थिर, जैसे अन्तरंग में से बोलते हैं और अपेक्षतया अपने ही प्रति बोलते हैं। सदा वही लीन और तद्गत मुद्रा।

उसके अतिरिक्त उस अवसर की एक ही बात का और ध्यान है। जाने वर्ष का कौन-सा विशेष दिवस था कि वहाँ आस-पास के आदिवासी सन्थाल लोग मेले में जमा हुए। यूथ-के-यूथ सन्थाल स्त्री और पुरुष, शान्ति-निकेतन के खुले मैदान में नृत्य-क्रीड़ा आमोद-प्रमोद में वर्ष को सार्थक करने वहाँ एकत्रित हुए थे। विशेष कुतूहल न था। अनायास ही वहाँ पहुँच गया था। रात के दस से ऊपर हो चुके थे। पाख उजला था और चँदनी बिछी थी। मानो उत्सव का अभी तो आरम्भ मुहूर्त ही था। रात बीतती गई और उल्लव मध्याह्न पर आता गया। रात का बारह हो आया। अनेक-अनेक टोलियाँ व्यूह-बद्ध होकर लय-ताल से नृत्य कर रही थीं। अर्धचन्द्राकार में नवग्रौवनाओं की पाँत हिलोर-सी लेती और सामने से चंग और मृदंग थामे चार-पाँच युवकों का समूह धूम मचाता-सा उनकी ओर आता और आता नहीं कि पीछे फिर जाता। जाने क्या नशा था, आज भी मैं उसको समझ नहीं सकता हूँ। मैं तिल की तरह वही बैधा खड़ा रह गया। आज भी वह दृश्य मुझे भूलता नहीं है। बारह के बाद कब एक हो गया, दो भी हो गया, पता ही न चला। देखा कि सामने की टोली विश्राम के

लिए तनिक चिखरी है। नवांगनाएँ पाँत से टूटकर हँसी-हठोली बरती एक-दुक हो गई। तब सरदी का पता चला। पता चला कि ऋतु शीत है। कपड़ा कम है। चाँद ढला चाहता है। तीन के ऊपर समय हो रहा होगा। इस चेत में चल तो दिया, लेकिन विभोरता सहसा टूटती न थी और जगह पर आकर लेटने पर भी नींद से पहले और नींद के सपनों में उन तस्वीरों का नृत्य रह-रह कर दीखता रहा।

रवीन्द्रनाथ की भव्यता और सन्ध्यालों की अनगढ़ता में सादृश्य चाहे न हो पर दोनों स्मृतियाँ साथ अंकित हुईं और साथ ही रहती आई हैं और मैं तो हठात् मान लेता हूँ कि उनमें विषमता नहीं है। दोनों में ही प्रकृति की अंकुरित स्वीकारता है और उस महामाया की भाव-भंगिमा के साथ लयलीनता !

प्रश्न—इस भेंट के समय तक आपने लिखना तो शायद प्रारम्भ ही कर दिया था ?

उत्तर—हाँ, उस सन् '३० में ही मेरी पहली पुस्तक 'परख' निकली थी और रविठाकुर से मिलकर लौट ही रहे थे कि रास्ते में बनारसीदास जी ने अखवार खोला और बताया कि उसे एकेडमी-पुरस्कार मिला है। मेरे लिए यह अनोखी चीज थी, क्योंकि मैं बेहद अनाड़ी था। तीर्थ-लाभ के प्रसंग का ही यह अभिनन्दन हो गया।

प्रश्न—रविठाकुर से आपकी यह अन्तिम मुलाकात थी या इसके बाद भी उनसे मिलने का अवसर आया ?

उत्तर—बाद में भी मिलना हुआ। मुझे याद है, तब गरमी के दिन थे। मुलाकात करीब ढाई बजे हुई। हम लोग (साथ श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी थे) शायद सिर पर तौलिया डाले गए। रवि बरामदे में बैठे थे। बाहर सरकण्डों का पर्दा पड़ा था। सामने खुली बड़ी मेज थी। वह बैठे मूढ़े पर थे जिसमें पीट न थी। सीधे मानो ध्यानस्थ, एकाग्र सामने कागज फैला चित्रकारी कर रहे थे। दूर से देखने पर जो राजसी विलास का मण्डल कवि के चारों ओर मालूम होता था, पास से जान पड़ा कि उसका रहस्य

क्या है। मालूम हो गया कि कीर्ति सस्ती वस्तु नहीं है। मंहगे मोल ही उसे उपार्जित किया जा सकता है। सब सिद्धि के नीचे तप है। जो तब दीखा वह अब भी याद है। मानो उस व्यक्ति के लिए विराम और विश्राम कहीं नहीं है—अजस्र और निरन्तर तप ही एक मार्ग। हर भले आदमी का यह विश्राम का समय था। मानो ऊपर की तपती घाम आदमी को यही कहती है, पर उसके उत्तर में नीचे की ओर से भी वैसा ही दाखल और प्रखर तप भेजा जा सकता है, इसका अनुमान बहुतों को न होगा। पर तप ही सत्य है। सृष्टि यज्ञ से चलती है। और अगर ऊपर सूरज है तो नीचे भी कुछ आदमी सूरज हुआ करते हैं। तभी सृष्टि कायम है और भरा रसातल नहीं जा पाती है।

मन में प्रश्न हुआ कि क्या इन्हें समय का पता नहीं है? आतप के ताप का पता नहीं है? आसपास सब तरह की असुविधा का पता नहीं है? पता लगा कि जैसे सचमुच ही इन सब बातों का इस सामने बैठे साधक को पता नहीं है। पसीना आता है और अगर वह बहुत हो जाता है तो अनायास पोंछ लिया जाता है, अतिरिक्त उसकी चिन्ता नहीं है।

देखकर मैंने मन-ही-मन बहुत-सी बातों को समझ लिया (सुनते हैं पीछे गांधीजी ने गुरुदेव को कहा कि दिन में घण्टा-भर अवश्य नींद ले लिया करें तो गुरुदेव ने कहा कि 'कैसे लूँ। नींद कभी मुझे दिन में आई नहीं है, आती नहीं है।') समझ सका कि कुछ है बहुत गहरे में, कुछ विरह है जो चैन नहीं लेने देता। “आशिक होकर सोना क्या?” विरही-भूत स्नेह सतत इस पुरुष को जगाए रखता है। इसमें निष्क्रिय कैसे हुआ जाय। अनवरत क्रिया में ही निष्कृति है। अहरह जप, अहरह सृष्टि।

उसी समय मेरा 'सुनीता' उपन्यास निकला था। भार्गव हजारीप्रसाद जी ने गुरुदेव से कहा कि आप के 'घरे-बाहरे' की 'सुनीता' के साथ तुलना की गई है। गुरुदेव ने दिलचस्पी के साथ ऊपर देखा। मैंने कहा कि 'क्या आप का अभिप्राय यह है कि घर और बाहर के बीच रेखा रहनी चाहिए। किञ्चिद् विरोध और वैमुख्य। 'घरे-बाहरे' का 'संदीप' मानो बाहर की

और से प्रहार है। घर के अन्तरंग को उससे अपने को बचाए रखना है। बाहर वहिर्गत और बहिष्कृत ही रहे। अन्तःस्वीकृत होने देना, मानो विपदा मोल लेना है। क्या वस्तुस्थिति और 'घरे-वाहरे' की परिणति यही है? इच्छा थी कि पूछूँ कि संदीप को वैसा लुब्धक अहेरी का-सा रूप देकर आपने यही जतलाना चाहा है?

रवि बाबू बंगला में बोले। आँखें बन्द हो आईं। चेतना मानो मूर्धनस्थ हो रही। चेहरा निर्विकार और तल्लीन। जैसे हिमगिरि से भागी-रथी फूटी हों। पहले अनायास और नीरव, फिर शनैः-शनैः द्रुत और उच्छलित। भाषा वह शब्दों की न थी, मानो उससे अधिक मूर्त और सच्चित्र हो। मैं बंगला नहीं जानता था, पर मेरे अज्ञान को भेदकर उस भाषा का भाव मुझे मिलता गया। उस दृश्य को भूल नहीं सकता। हिमालय के शृङ्गों और उपत्यकाओं से क्या जाह्नवी बहती हांगी, जैसे उनके मुग्न से नाना भंगिमाओं के साथ वाग्धारा निस्तृत हुई। नाना छन्द और लय उसमें समाहित जान पड़े। कभी अवरोह में शान्त और सौम्य, अभी आरोह में दृढ़ और तप्त। मानो जो कह रहे हों, बन्द आँखों से देख भी रहे हों। कहते-कहते भाल पर कभी रेखाएँ सिमट आतीं और हाथों की सुदृष्टियाँ बंध आतीं कि क्षण में मुस्कराहट खिली डीखती।

उनके कहने का भाव था कि पश्चिम से एक दस्यु-वृत्ति का प्रवेश हुआ है। वह बल को जानती है, वह स्फीत है और दुर्दान्त। वह ध्रानेट के लिए निकली है। मानो सष उसकी भूल के लिए भोज्य हैं। यही उगके होने की सार्थकता है कि यह भोग में आए। दपोंछ त यह दस्युता प्रभुता बनना चाहती है, पर मानव-संस्कृति क्षण के लिए भूलें, अन्त में जेतोगी। वह भ्रष्ट न होगी, नष्ट न होगी। अन्त में आत्म-लाभोन्मुख होगी। संदीप में वही दस्यु-वृत्ति है। उसे परास्त और पराजित होना है।

इत्यादि भाव अनोखे रंगों से मानो उन शब्दों की छटा में से फूटकर इन्द्रधनुष की भौंति उस समय छा गया था। उस वाक्-प्रवाह को छुआ नहीं जा सकता, रोका नहीं जा सकता था, यहाँ तक कि पूरी तरह हृदयंगम

भी नहीं किया जा सकता था। मानो उसकी शोभा का साक्षी होना ही सम्भव था। वह कहते गए, कहते गए। मैं उनके चेहरे की ओर देखता रहा। एक दिव्यता-सी लिखी दीग्यती थी। ऐसे आध-वयस्के से ऊपर हो गया हो तो अनरज नहीं। शनैः-शनैः विराम आया। जैसे संगीत समाप्त तो हुआ हो पर मूर्छना भरी हो। उन्होंने ओल खोली और हमारी ओर देखा।

वह प्रवचन ही मेरा अन्तिम दर्शन रहा, पर वह अविस्मरणीय है।

प्रश्न—रवि-बाबू का जन्म एक आभिजात कुल में हुआ था और उनका पालन-पोषण भी उसी वातावरण में हुआ। आपको उनके व्यक्तित्व और साहित्य में इस विशेषता का कितना आभास मिला ?

उत्तर—इसका आभास तो उनकी रचनाओं में यहाँ से वहाँ तक सब तरफ मिलता है। व्यक्तित्व से भी अनायास वह मिलता था, लेकिन मैं हठात् मानता हूँ कि आभिजात्य पाकर यद्यपि वह उसे पहने रहे, फिर भी भीतर-ही-भीतर उनकी चेष्टा रही कि वह उसे उतारकर अलग कर सकें। ऐसा हो नहीं पाया, लेकिन इससे अभिलाषा और चेष्टा का मूल्य कम नहीं होता। यही साबित होता है कि आदत बड़ी ताकत है। इसी से उसे दूसरा स्वभाव मान लिया जाता है।

प्रश्न—आपने कहा कि उनकी रचनाओं में सब तरफ आभिजात्य मिलता है किन्तु अपने व्यक्तित्व में से वह उसे हटाने की चेष्टा कर रहे थे। क्या साहित्य में ऐसा प्रयत्न उन्होंने नहीं किया ?

उत्तर—प्रयत्न यदि व्यक्तित्व में रहे तो साहित्य में भूलक आने से कैसे बचेगा ? वह कविता क्या आपको याद है कि ईश्वर को तू कहाँ खोजता है। सब कहाँ से लौटकर खोज उस कविता में अन्त में धरती में पसीना डालते मेहनती पर पहुँचती है और वहाँ मानो ईश-तत्त्व की उपस्थिति दिखाती है। ऐसे स्थल उनकी कृतियों में और भी अनेक हैं। जहाँ मानो

विशिष्टता से उतरकर साधारणता में रम जाने की अभीप्सा व्यक्त हुई है।

प्रश्न—रवीन्द्रनाथ की कविता में जो रहस्यवादी भावना है, उसमें विशिष्टता से उतरकर साधारणता की ओर जाने की अभीप्सा तो नहीं दिखाई देती ?

उत्तर—वहाँ तो समाज के साधारण और विशिष्ट—दोनों ही पीछे छूट जाते हैं। सामाजिक आभिजात्य वहाँ संगत ही नहीं रहता। वहाँ नितान्त प्रणमन और निवेदन है। मानो अहम् वहाँ दीप-शिखा के धुँए की भाँति प्रार्थना में ऊर्ध्वसित हो, ऊपर उठता-उठता शून्य में विलीन हो जाता है। यह प्रक्रिया साधारणीकरण से विरोधी नहीं है; बल्कि उसको परिपूर्णता देने वाली कही जा सकती है।

प्रश्न—हिन्दी—कविता पर उनकी रहस्यवादी कविता का जो प्रभाव पड़ा, उसे आप कहाँ तक संगत मानते हैं ?

उत्तर—प्रभाव तो अनिवार्य था। कुछ प्रभाव वह है जो आत्मगात होकर प्रगटा; वह तो इष्ट। फिर कुछ प्रभाव ऐसा भी देखा गया और अब तक देखा जाता है, जिसने सीधे अनुकरण को पकड़ा। उसको इष्ट बहना कठिन है।

प्रश्न—रवीन्द्र के दार्शनिक विचारों पर श्री राधाकृष्णन सर्व-पल्ली ने 'फिलासफी आफ रवीन्द्रनाथ' पुस्तक लिखी है। इसी तरह कई आलोचक और विद्वान् उन्हें दार्शनिक मानते हैं।—क्या उनका कोई विचार-दर्शन ऐसा था जिसके आधार पर उन्हें मूलतः दार्शनिक कहा जा सके ?

उत्तर—नहीं, वह कवि थे। दर्शन था यदि उनका तो कवि का था। इससे छायामय हो सकता था। पुष्ट दर्शन के लिये निषेध आवश्यक है। निषेध उनमें पर्याप्त से कम है। देखिए उनके चेहरे को; बल्लान्छादन को; रहन-सहन को; मानो सबको रहने-देने और समाये रखने की उद्यतता है। कपड़े परिमाण से अधिक ढीले और आवश्यकता की मात्रा से काफ़ी अधिक। साथ उनके गांधी की याद कीजिए। और कल्पना में लाने की कोशिश

कीजिए उन रवीन्द्रनाथ को, जिनका सिर धुटा हो और धुटने खुले हो। कल्पना पल्लाड़ खा रहेगी और बढ़ न सकेगी। गांधी भी दार्शनिक न थे, महात्मा थे। यों समझिए कि कवि और महात्मा के अध्वोन्न दार्शनिक होता है। कवि का स्वधर्म भिन्न है और रवीन्द्रनाथ उससे अभिन्न थे। ध्यान में लीजिए वह कविता; जहाँ कवि कहते हैं कि मुक्ति उनके लिए नहीं है इन्द्रियों के निरोध में; बल्कि इन्द्रियों के भोग में से ही उन्हें उसे पा लेना है। इसमें सहसा दर्शन की दृढ़ता दीखती हो; पर निस्संशय यह वृत्ति कवि की उपलब्धि है।

प्रश्न—यह तो आप मानते ही हैं कि रवीन्द्र की कविता का प्रभाव हिन्दी-कविता पर पड़ा क्या इसी प्रकार हिन्दी कथा-साहित्य पर भी उनका प्रभाव पड़ा है ?

उत्तर—पड़ा तो है, पर कथा-रचना में भी रवीन्द्र कवि हैं। और कहानी घटनावलम्बी होने के कारण साम्प्रतिकता से कुछ अधिक दूर होकर नहीं चलती। यह युग का वेग तो आप देखते ही हैं। द्रुत-गति से परिवर्तन हो रहा है। इसलिए कहानी पर पड़ा उनका प्रभाव अब उसकी काया पर उतना देखने में नहीं आता।

प्रश्न—कहते हैं कि आपके उपन्यासों पर—विशेषतः 'सुखदा' पर रवीन्द्रनाथ के उपन्यासों—विशेषतः 'घरे-बाहरे' का कुछ प्रभाव है ?

उत्तर—कैसे कहूँ कि कहने वालों की बात गलत है। अपने पर पड़े प्रभावों को छुँटकर अलग-अलग करना मेरे लिए सम्भव नहीं है। प्रभाव तो अनन्त अवकाश है और अनादि इतिहास का भी है, इसलिए अपने अदृष्ट और कृतज्ञता को विभक्त करके क्या बाँटूँ। अविभक्त रूप में उसे ईश्वर के प्रति देकर मानता हूँ कि सब वही करता और कराता है। मुझे कुछ नहीं हो पाता। कारण, वही तो है, उससे बाहर होने को बच क्या जाता है ?

प्रश्न—उपन्यासकार के रूप में रवीन्द्रनाथ आपको ज्यादा

अच्छे लगे या कवि के रूप में ?

उत्तर—उनका रूप तो कवि का है। उपन्यास में भी वह बिगड़ता नहीं है। हाँ, उपन्यासकार से इधर जगत् को जो अपेक्षा हो चली है, वह कविता से नहीं है। इस तरह याद तो वह कवि के रूप में ही किए जाएँगे।

प्रश्न—रवीन्द्रनाथ ने अपने उपन्यासों में अनेक सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं पर डाइरेक्ट और इन्डाइरेक्ट रूप में अपने विचार व्यक्त किए हैं, क्या उन्हें पढ़कर ऐसा लगता है कि वह किसी एक मतवाद के पोषक थे ?

उत्तर—मुझे तो ऐसा नहीं लगता। मतवाद वृत्ति की भाँति एक बन्द और चौकस वस्तु होती है। रवीन्द्र अपने लिखने में मुझे खुले प्रतीत हुए। मतवाद मनुष्य की सहानुभूतियों पर सीमा डालता है। प्रति-मत के लिए या उसके वादी या अनुयायी के लिए पर्याप्त सहानुभूति अमुक मत-वादी में रह नहीं पाती। वह सूख जाती है और हरियालापन नष्ट हो जाता है। उसकी जगह एक शुष्कता, कर्कशता और कट्टरता जमने लगती है। क्या वैसा आभास रवीन्द्रनाथ की कृतियों में आप देख पाते हैं ? शायद नहीं।

प्रश्न—चाहे उनमें शुष्कता और कर्कशता न हो, किन्तु उनमें अपने कुछ विचारों के प्रति कट्टरता अवश्य थी। जैसे ब्रह्म-समाज का समर्थन और फासिज्म का विरोध आदि। क्या इसे आप कट्टरता मानेंगे ?

उत्तर—‘गोरा’ में जो प्रचलित हिन्दुत्व का प्रबल समर्थन है, उसमें क्या हृदय की ऊष्मा भी उनकी ओर से नहीं आ मिली है ? और फासिज्म के जिस विरोध को आप कट्टर कहते हैं मैं उसे दृढ़ कहता हूँ। कट्टर इसलिए नहीं कि गाली के जवाब में गाली नहीं है और दृढ़ इसलिए कि वह अदम्य है। दृढ़ वह इसीलिए नहीं सकता कि उसमें लचक है। सहने की शक्ति का प्रमाण वह लचक है। सख्ती में सहनशक्ति नहीं होती। इससे उसकी

मजबूती ऊपरी है। कठोर को ज्यादा कठोर से अन्त में टूटना ही होता है।

प्रश्न—भारतीय-साहित्य की परम्परा में रवीन्द्रनाथ की सबसे बड़ी देन आप क्या मानते हैं ?

उत्तर—प्रकृति की स्वीकृति। प्रकृति में अन्तर-बाह्य—दोनों ही रूप सम्मिलित मानिए। शिक्षा में उन्होंने देखा कि बौद्धिकता विशेष है, रागात्मकता पर्याप्त नहीं। विज्ञान से हम वस्तु को और विषय को पकड़ना चाहते हैं। भावना का हार्दिक सम्बन्ध इसमें दुर्बल पड़ जाता है। प्रकृति के साथ सामन्जस्य उसका क्षीण होता है। शान्ति-निकेतन की स्थापना के मूल में मानो, अभाव-सम्बन्धी यही भावानुभूति काम कर रही थी। वहाँ पक्के कमरों में भी, बल्कि वन-वायु और लता-वृक्ष की निकटता में—शिक्षा लेना और देना मान्य किया। पेड़ों की छाँह में अथवा खुली धूप में अध्यापक-विद्यार्थी बैठते और सीखते। मानो यह सीखना जीवन से कोई अलग व्यापार न था। शिक्षा और लीला की बीच की खाई उन्हें समझ न आई। कला और क्रीड़ा के साथ उसका योग हुआ। इस सब में वही मूल तत्त्व देखता हूँ। अर्थात् प्रकृति की स्वीकृति।

फिर उनके उपन्यासों और निबन्धों को देखिए ! 'चार अध्याय' में क्या है ? 'घर और बाहर' में क्या है ? मानो मनुष्य की अहम्मन्यता में से निकली हुई निषेध-वृत्ति का प्रतिरोध और प्रतिक्रमण है। हठपूर्वक जयी और जेता ने चाहा कि वह अपने स्नेह को अस्वीकार करेगा लेकिन रवीन्द्रनाथ ने बताया कि यह व्यर्थ चेष्टा है। इसमें पराजय निश्चित है और शुभ है। मनुष्य की जय सन्धि में है, सामन्जस्य में है; विग्रह और वैषम्य में नहीं है। व्यक्ति की स्पर्धा को निखिल के समक्ष उन्होंने सदा परास्त दिखाया है। मानो मानव-दर्प मानव-हीनता का ही परिचायक है और मानव-सम्पूति प्रेमार्पित उसके आकिन्चन्य में ही है। यह उनका सन्देश मुझे तो उनकी रचनाओं में स्पष्ट मुखरित दीखता है और अपने शब्दों में मैं उसे अन्तःप्रकृति की अकुपित स्वीकृति कहना चाहूँगा।

इससे यह स्पष्ट हो कि इसी प्रकार राष्ट्रीय अथवा सामयिक उपयोगिता

के प्रश्नों से उन्हें जोड़े रखना न्याय्य न होगा। प्रासंगिक रूप से वे तो आते ही हैं और समाधान की दिशा की सूचना भी पाई जा सकती है। कारण, यह कि मानव-सम्बन्ध और उनकी पारस्परिकता तो यह है जिन पर उनके आत्म-चित्र उतरते हैं। उस लाभ को तो आनुसंगिक कहना चाहिए। मूल लगन तो कृतिकार की उस तत्त्व की शोध के प्रति है, जो एक में नहीं हैं, अनेक में नहीं हैं; बल्कि सब में है। और एक-एक की भाषा में लें तो केवल परस्परता में है। वही मर्म है, वही सत्य है। वह अखण्ड भी है और अमर है। काल में वह विभक्त नहीं है और शाश्वत है। उसके प्रति मानव-व्यक्ति का सम्बन्ध अनिवार्यतया विभोर-भक्ति का हो रहता है। स्नेह और प्रेम का सघन और निस्स्व रूप ही भक्ति है। इसलिए रवीन्द्रनाथ के वे गान, जिन पर दुनिया भूम आई और अपना सर्वश्रेष्ठ पुरस्कार देकर भी मानो अपने को उनके ऋण से उन्मृग न मान सकी, निःशेष तल्लीनता की साधना का सन्देश देने वाले हैं। उस सन्देश में विशेष प्रयोजनीयता नहीं है, लौकिकता भी नहीं है। इसीलिए कभी वह खो जाता है और हम भी खो जाते हैं; लेकिन उसी से हम गहरी वृत्ति भी पाते हैं। और फिर फिरकर फिर उमी के लिए तरसते हैं। लौकिक को यह सन्देश तब अलौकिक मालूम हो तो क्या विस्मय है !

प्रेमचन्द : मैंने क्या जाना और पाया

(१)

इस माल की होली को गए दिन अभी ज्यादा नहीं हुए हैं। इस बार उस दिन हमारे यहाँ रंग-गुलाल कुछ नहीं हुआ। मुन्नी घर में बीमार थी। मैं अपने कमरे में अकेला बैठा था। मामूली तौर पर होली का दिन फीका नहीं गुजरा करता। पर मुझे पिछले बरस का वह दिन खाम तौर से याद आ रहा था। मैं सोच रहा था कि वह दिन तो अब ऐसा गया कि लौटने वाला नहीं है। ये बीतते हुए दिन आखिर चले कहाँ जाते हैं? क्या कहीं ये दृक्छे होते जाते हैं? इस भाँति उन जाते हुए दिनों के पीछे पड़कर मैं खुद खोया-सा हो रहा था।

तभी सहसा पत्नी ने आकर कहा—पार साल इस दिन बाबूजी यही थे—

कहती-कहती बीच ही में स्वर वह सामने सूने में देखती हुई रह गई। मैं भी कुछ कह नहीं सका। उस वक्त तो उनकी ओर देखना भी मुझे कठिन हुआ।

थोड़ी देर बाद बोली—मैं आखिरी वक्त उन्हें देख भी न सकी—अम्माँ जी से भी अब तक मिलना न हुआ।

यह कहकर फिर मौन साधकर वह खड़ी हो गई।

तब मैंने कहा कि उस बात को छोड़ो। यह बताओ कि मुन्नी का क्या हाल है? सो गई है?

“हाँ, बड़ी मुश्किल से सुला के आई हूँ।”

इतने में ही रंग-विरंग मुँह, तर-बतर कपड़े और हाथ में पिचकारी लिए बड़ा बालक ऊपर आन पहुँचा। जाने क्या उनके कान में भनक पड़ी थी। आते ही उछाह में भरकर बोला—अम्माँ, बाबा जी आएँगे? कब आयेंगे?

अम्माँ ने पूछा—कौन बाबाजी?

बालक ने कहा—हाँ, मैं जानता हूँ। पार साल जो होली पर थे नहीं, वही बाबाजी। मैं सब जानता हूँ। अम्माँ, वह कब आएँगे?

उस समय मैंने उसे डपट कर कहा—जाओ, नीचे बालकों में खेलो।

इस पर वह बालक मुझसे भी पूछ उठा—बाबू जी, बनारस वाले बाबा जी आने वाले हैं? वह कब आयेंगे?

मैंने और भी डपटकर कहा—मुझे नहीं मालूम। जाओ, तुम खेलो।

बालक चला तो गया था। हो सकता है कि नीचे खेला भी हो, लेकिन इस तरह उस पार साल के होली के दिन की याद के छिड़ जाने से मन की तकलीफ बढ़ गई।

पत्नी मेरी ओर देखती रहीं, मैं उनकी ओर देखता रहा। बोल कुछ सम्भता ही न था, आखिर काफी देर बाद वह बोलीं—तुम बनारस कब जाओगे? मैं भी जरूर चलूँगी।

मैंने इतना ही कहा कि देखो—

बात यह थी कि पार साल इसी होली के दिन प्रेमचन्द जी नीम की सींक से दाँत कुरेदते हुए धूप में खाट पर बैठे थे। नाश्ता हो चुका था और पूरी निश्चिन्तता थी। बदन पर धोती के अलावा बस एक बनियान थी जिनमें उनकी दुबली और लाल-पीली देह छिपती न थी। वक्त साढ़े नौ का होगा। ऐसे ही समय होली वालों का एक दल घर में अनायास घुस आया और बीसियों पिचकारियों की धार से और गुलाल से उस दल ने उगका ऐसा सम्मान किया कि एक बार तो प्रेमचन्द जी भी चौंक गए। पलक मारने में वह तों लिर से पाँव तक कई रंग के पानी से भीग चुके थे। हड़बड़ा-

कर उठे, क्षण-इक षके, स्थिति पहचानी, और फिर वह कहकहा लग ॥ कि मुझे अब तक याद है । बोले—अरे भाई जैनेन्द्र, हम तो मेहमान हैं ।

मैंने आगत सज्जनों से, जिनमें आठ बरस के बच्चों से लगाकर पचास बरस के बुजुर्ग भी थे, परिचय कराते हुए कहा—आप प्रेमचन्द जी हैं ।

यह जानकर सब लोग बहुत प्रसन्न हुए ।

प्रेमचन्द जी बोले—भाई, अब तो खैर है न । या कि अभी जहमत बाकी है ?

“लेकिन इन दिन खैरियत का भरोसा क्या कीजिए । और होली के दिन का तो और भी ठिकाना नहीं है ।”

इस पर प्रेमचन्द जी ने फिर कहकहा लगाया । बोले—तो कौन कपड़े बदले । हम तो यहीं बैठते हैं खाट पर कि आए जो चाहे ।

.....सच, यकीन करना सुखिल होता है कि वह दिन अभी एक बरस पहले था और प्रेमचन्द जी अब नहीं हैं । फिर भी प्रेमचन्द जी तो नहीं ही हैं । इतने दूर हो गए हैं कि जीते जी उन्हें नहीं पाया जा सकता । इस सत्य को जैसे भी चाहे हम समझें, चाहे तो उसके प्रति विद्रोही ही घने रहें, पर किसी भी उपाय से उसे अन्यथा नहीं कर सकते ।

(२)

छुटपन से प्रेमचन्द जी का नाम सुनता देखता आया हूँ । वह नाम कुछ-कुछ इस तरह मन में बस गया था जैसे पुराण-पुराणों के नाम । मानो वह मनोलोक के ही वासी हैं । सदेह भी वह हैं और इन कर्म-कलाप-संकुलित जगत में हम-तुम की भाँति कर्म करते हुए जी रहे हैं—ऐसी सम्भावना मन में नहीं होती थी । बचपन का मन था, कल्पनाओं में से रस लेता था । उन्हीं पर पल-भूलकर वह पक रहा था । सन् १२६ में शायद, या सन् १२७ में, ‘रंगभूमि’ हाथों पड़ी । तभी चिपटकर उसे पढ़ गया । तब कदाचित् एक ही भाग मिला था, वह भी दूसरा । पर उससे क्या । प्रेमचन्द जी की पुस्तक थी और शुरू करने पर छूटना दुष्कर था । उसे पढ़ने पर मेरे लिए प्रेमचन्द जी और भी बाध्यता से मनोलोक के वासी हो गए ।

पर दिन निकलते गए और इधर मेरा मन भी पकता गया। इधर-उधर की सूचनाओं से बोध हुआ कि प्रेमचन्द जी लेखक ही नहीं हैं और आकाश-लोक में ही नहीं रहते, वह हम-तुम जैसे आदमी भी हैं। यह जानकर प्रसन्नता बढ़ी, यह तो नहीं कह सकता। पर यह तथा ज्ञान विचित्र मालूम हुआ और मेरा कुतूहल बढ़ गया।

सन्, १२६ आते-आते मैं अकस्मात् कुछ लिख बैठा। यों कहिए कि अघटनीय ही घटित हुआ। जिस बात से सबसे अधिक डरता रहा था—यानी, लिखना—वही सामने आ रहा। इस अपने दुस्साहस पर मैं पहले-पहल तो बहुत ही संकुचित हुआ। मैं, और लिखूँ—यह बहुत ही अन-होनी बात मेरे लिए थी। पर विधि पर किरका बस। जब मुझ पर यह आविष्कार प्रकट हुआ कि मैं लिखता हूँ तब यह ज्ञान भी मुझे था कि वही प्रेमचन्द जो पूरी 'रंगभूमि' को अपने भीतर से प्रगट कर सकते हैं, वहां प्रेमचन्द जी लखनऊ से निकलने वाली 'माधुरी' के सम्पादक हैं। सो कुछ दिनों बाद एक रचना बड़ी हिम्मत बौंकर डाक से मैंने उन्हें भेज दी। लिख दिया कि यह सम्पादक के लिए नहीं है, ग्रंथकर्ता प्रेमचन्द के लिए है। छापे में आने योग्य तो मैं हो सकता ही नहीं हूँ, पर लेखक प्रेमचन्द उन पंक्तियों को एक निगाह देख सकें और मुझे कुछ बता सकें तो मैं अपने को धन्य मानूँगा। कुछ दिनों के बाद वह रचना ठीक-ठीक तौर पर लौट आई। साथ एक कार्ड भी मिला जिस पर छपा हुआ था कि यह रचना धन्यवाद के साथ वापिस की जाती है। यह मेरे दुस्साहस के योग्य ही था, फिर भी मन कुछ बैठने-ना लगा। मैं उस अपनी कहानी को तभी एक बार फिर पढ़ गया। आखिरी स्लिप समाप्त करके उसे लौटाता हूँ कि पीठ पर फीकी लाल स्याही में अंग्रेजी में लिखा है—'Please ask if this is a translation.' जाने किस अतर्क्य पद्धति से यह प्रतीति उस समय मेरे मन में असंदिग्ध रूप में भर गई कि हो न हो, ये प्रेमचन्द जी के शब्द हैं, उन्हीं के हस्ताक्षर हैं। उस समय मैं एक ही साथ मानो कृतज्ञता में नहा उठा, मेरा मन तो एक प्रकार से सुर्मा ही चला था, लेकिन इस छोटे-से

वाक्य ने मुझे संजीवण दिया। तब से मैं खूब समझ गया हूँ कि सच्ची महानुभूति का एक कण भी कितना प्राणदायक होता है और हृदय को निर्मल रखना अपने-आपमें कितना बड़ा उपकार है।

पर मैंने न प्रेमचन्दजी को कुछ लिखा, न माधुरी को लिखा। फिर भी तब से अलक्ष्य भाव से प्रेमचन्द जी के प्रति मैं एक ऐसे अनिवार्य बन्धन से बँध गया कि उससे छुटकारा न था।

कुछ दिनों बाद एक और^१ कहानी मैंने उन्हें भेजी। पहली कहानी का कोई उल्लेख नहीं किया। यह फिर लिख दिया कि लेखक प्रेमचन्द की उस पर सम्मति पाऊँ, यही अभीष्ट है, छपने लायक तो वह होगी ही नहीं। उत्तर में मुझे एक कार्ड मिला। उसमें दो-तीन पंक्तियों से अधिक नहीं। स्वयं प्रेमचन्द जी ने लिखा था—‘प्रिय महोदय, दो (या तीन) महीने में माधुरी का विशेषांक निकलने वाला है। आपकी कहानी उसके लिए चुन ली गई है।’

इस पत्र पर मैं विस्मित होकर रह गया। पत्र में प्रोत्साहन का, बधाई का, प्रशंसा का एक शब्द भी नहीं था। लेकिन जो कुछ था वह ऐसे प्रोत्साहनों से भारी था। प्रेमचन्द जी की अन्तःप्रकृति की भल्लक पहली ही बार मुझे उस पत्र में मिल गई। वह बितने सद्भावनाशील थे उतने ही उन सद्भावनाओं के प्रदर्शन में संकोची थे। नेकी हो तो कर देना, पर कहना नहीं—यह उनकी आदत हो गई थी। मैंने उस पत्र को कई बार पढ़ा था और मैं दंग रह गया था कि यह व्यक्ति कौन हो सकता है जो एक अनजान लड़के के प्रति इतनी बड़ी दया का, उपकार का काम कर सकता है, फिर भी उराका तनिक भी श्रेय लेना नहीं चाहता। अगर उस पत्र के साथ कृपा-भाव (Patronisation) से भरे वाक्य भी होते तो क्या बेजा था। लेकिन प्रेमचन्द वह व्यक्ति था जो उनसे ऊँचा था। उसने कभी जाना ही नहीं कि उसने कभी उपकार किया है या कर सकता है। नेकी उससे होती थी, उसे नेकी करने की जरूरत न थी। इसलिए वह ऐसा व्यक्ति था

जिससे बढ़ी नहीं हो सकती ।

लेकिन मैं तो तब बच्चा था न । अपने को छपा देखने को उतावला था । लिखा—अगर वह कहानी छपने योग्य है तो अगले अंक में ही छपा दीजिए । विशेषांक के लिए और भेज दूँगा ।

उत्तर आया—‘प्रिय महोदय, लिखा जा चुका है कि वह कहानी विशेषांक के लिए चुन ली गई है, उसी में छपेगी ।’

इस उत्तर पर मैं उसके लेखक की ममताहीन सद्भावना पर चकित होकर रह गया । अब भी मैं उसको याद कर विस्मय से भर जाता हूँ । मुझे मालूम होता है कि प्रेमचन्द जी की सबसे घनिष्ठ विशेषता यही है । यही साहित्य में खिली और फली है । उनके साहित्य की रंग-रंग में सद्भावना व्याप्त है । लेकिन भावुकता में वह सद्भावना किसी भी स्थल पर कच्ची या उथली नहीं हो गई । वह अपने में समाई हुई है, छलक-छलक नहीं पड़ती । प्रेमचन्द का साहित्य इसीलिए पर्याप्त कोमल न दीखे, पर ठोस है और खरा है । उसके भीतर भावना की अडिग सच्चाई है । व्यक्ति के व्यक्तित्व की एक सहज दुर्बलता है, दया । दयावान दूसरे को दयनीय मानता है तभी दया कर सकता है । उसमें दम्भ भी आता है । प्रेमचन्द इस बात को समझते थे और वह शायद ही कभी वहाँ तक नीचे गिरे । सच्चाई तक ही उठने की कोशिश करते रहे ।

उसके बाद अचानक उनका एक पत्र आया । लिखा था—‘त्याग-भूमि’ में तुम्हारी कहानी^१ पढ़ी । पसन्द आई । बधाई ।

इस पत्र से तो जैसे एकाएक मुझ पर वज्र गिरा । मन की सद्भावना कैसे किसी को भीतर तक भिगोकर कोमल कर सकती है, उसे अपने अप-दार्थ होने का भान करा सकती है, यह तब से मैं समझने लगा हूँ । उस पत्र से मेरा दिल तो बड़ा ही लेकिन सच पूछो तो कहीं भीतर कठोर बन कर जमा हुआ मेरा अहंकार उस पत्र की चोट से बिल्कुल बिखर गया और मैं मानो एक प्रकार के मुल से रो-रो आया ।

अहंकार आत्म के बचाव का जरिया (A measure of self-defence) है। वह अपनी हीनता के दबाव से बचने के प्रयत्न का स्वरूप है। उसमें व्यक्ति अपने में ही उमरा हुआ दीखना चाहता है। प्रयास यह अर्थार्थ है। जब हम अपनी हीनता दूसरे के निकट स्वीकार लेते हैं, उसे निवेदन कर देते हैं, तब अहंकार व्यर्थ होकर सहसा ही बिखर जाता है। तब एक निर्मल गर्व का भाव होता है जिसका हीनता-बोध से सम्बन्ध नहीं होता। वह अहंकार से बिलकुल ही और वस्तु है।

प्रेमचन्द जी के उस पत्र के नीचे मैंने अपने को कृतार्थ भाव से हीन स्वीकार किया, और मैंने उसको प्रेमचन्द जी का आशीर्वाद ही माना। उस समय किसी भी प्रकार मैं उसको अपनी योग्यता का सर्टिफिकेट नहीं मान सका। फिर भी आशीर्वाद का पात्र बन सका, यही गर्व क्या मेरे लिए कम था। मैंने पाया है, गुरुजनों का आशीर्वाद मन के काठिन्य को, कल्मष को धोता है। पर उसे आशीर्ष के रूप में ही ग्रहण करना चाहिए। अन्यथा वही शाप भी हो सकता है।

उसके बाद से पत्र-व्यवहार आरम्भ हो गया। फिर जो कहानी^१ भेजी उसको प्रकाशन के लिए अस्वीकार करते हुए उन्होंने खुलकर लिखा— कहानी में 'यह' होना चाहिए, कहानी 'ऐसी' होनी चाहिए। मेरी धृष्टता देखो, कि मैंने शंका की कि, कहानी में क्यों 'यह' होना चाहिए, और क्यों कहानी 'ऐसी' ही होनी चाहिए। छोटे मुँह बड़ी बात करते मुझे शर्म आनी चाहिए थी; पर प्रेमचन्द जी ने जरा भी वह शर्म मेरे पास न आने दी। इतना ही नहीं, बल्कि मुझे तो यह मालूम होता है कि उस प्रकार की चिर्लज्ज शंका के कारण तो मानो और भी उन्होंने मुझे अपने पास ले लिया। शंकाओं के उभर में एक प्रकार से उन्होंने यह भी मुझे सुझाया और याद रखने को कहा कि 'मुझे निर्भ्रान्त न मानना। कहानी हृदय की वस्तु है, नियम की वस्तु नहीं है। नियम हैं और वे उपयोगी होने के लिए हैं। हृदय के दाग में जब वे अनुपयोगी हो जायें तब वेशक उन्हें उल्लंघनीय

मानना चाहिए। लेकिन—।' उनका जोर इस अन्तिम 'लेकिन' पर अवश्य रहता था। नियम बदलेंगे, वे टूटेंगे भी, पर इस 'लेकिन' से सावधान रहना होगा। प्रेमचन्द जी इस 'लेकिन' की और उससे आगे की जिम्मेदारी स्वयं न लेकर मानो निर्यायक के ऊपर ही छोड़ देते थे। मानो कहते हों—'उधर बहुत खतरा है, बहुत खटका है। मेरी सलाह तो यही है, यही होगी कि उधर न बढ़ा जाय। फिर भी यदि कोई बढ़ना चाहता है तो वह जाने, उसका अन्तःकरण जाने। कौन जाने कि मुझे खुशी ही हो कि कोई है तो, जो खतरा देखकर भी (या ही) उधर बढ़ना चाहता है।' कई बार उन्होंने कहा है—'जैनेन्द्र, हम समाज के साथ हैं, समाज में हैं।' यह इस भाव से कहा है कि मानो कहना चाहते हों कि—'जो हीन-दृष्टि इतना तक नहीं देखता उसे तर्क में पड़ने की अपनी ओर से मैं पूरी छुड़ी देता हूँ।'

(३)

इस भाँति दूर-दूर रहकर भी चिन्नी-पन्नी द्वारा परस्पर का अपरिचय बिल्कुल जाता रहा था। कुंभ के मेले पर इलाहाबाद जाना हुआ। वहाँ प्रेमचन्द जी का जवाब भी मिल गया। लिखा था—'अमीनुद्दौला पार्क के पास लाल मकान है। लौटते वक्त आओगे ही। जरूर आओ।'।

सन् ३० की जनवरी थी। खासे जाड़े थे। बनारस से गाड़ी लग्ननक रात के कोई ४ बजे ही जा पहुँची थी। अँधेरा था और शीत भी कम न थी। ऐसे वक्त अमीनुद्दौला पार्क के पास वाला, लाल मकान मिल तो जायगा ही, पर मुमकिन है असुविधा भी कुछ हो। लेकिन दरअसल जो परेशानी उठानी पड़ी उसके लिए मैं बिल्कुल तैयार न था।

क्या मैं जानता न था कि मैं प्रेमचन्द जी के यहाँ जा रहा हूँ? जी हाँ, वही जो साहित्य के सम्राट् हैं; घर-घर जिनके नाम की चर्चा है, उनके-से मशहूर आदमी हैं कितने! मैं जानता था और बड़ी खुशी से हर किसी को जतलाने को उत्सुक था कि मैं उनके, उन्हीं के यहाँ जा रहा हूँ।

लेकिन मैं अपने को कितना भी शानी जानता होऊँ, और अखबार में

छपने लायक दो-एक कहानियाँ भी लिख चुका होऊँ, पर यह जानना मुझे बाकी था कि मैं कितना भूला, मोला—कितना मूर्ख हूँ। महत्ता के साथ मेरे दिमाग में जैसे अगले कदम पर ही महल आ जाता था। जो महल मे प्रतिष्ठित नहीं है, क्या ऐसी भी कोई महत्ता हो सकती है? पर मुझे जानना शेष था कि महल और चीज है, महत्ता और चीज है। उन दोनों में कोई बहुत मगा सम्बन्ध नहीं है। महत्ता मन से बनती है, महल पत्थर का बनता है। अतः इन दोनों में मित्रता अनिवार्य नहीं। किन्तु इस सद्ज्ञान से मैं तब तक सर्वथा शून्य था।

पाँच बजे के लगभग अमीनुद्दौला पार्क की सड़क के बीचोबीच आ खड़ा हो गया हूँ, मामान सामने निर्जन एक दुकान के तख्तों पर रखा है। इक्का-दुक्का शरीफ आदमी टहलने के लिए आ जा रहे हैं। मैं लगभग अत्येक से पूछता हूँ—जी, माफ़ कीजिएगा। प्रेमचन्द जी का मकान आप बता सकते हैं? नज़दीक ही कहीं है। जी हाँ, प्रेमचन्द।

सज्जन विनम्र, कुछ सोच में पड़ गए। माथा खुजलाया, बोले—प्रेमचन्द! कौन प्रेमचन्द?

“जी वही आला गुसनिफ़। नावलिस्ट। वह एडिटर भी तो हैं, साहब। मशहूर आदमी है।”

‘ऐ-ऐ, पि...रे...म...च...न्द!’ और सज्जन विनीत असमंजस में पड़कर मुझसे क्षमा माँग उठे। क्षमा माँग, बिटा ले, छड़ी उठा, मुझे छोड़ वह अपनी सैर पर बह गए।

उस सड़क पर ही मुझे छः बज आए। साढ़े छः भी बजने लगे। तब तक दर्जनों राजनों को मैंने क्षमा किया। लगभग राती को मैंने अपने अनुसंधान का लक्ष्य बनाया था। लेकिन मेरे मामले में राती ने अपने को निपट अममर्थ प्रगट किया। मैं उनकी असमर्थता पर खीन तक भी तो न सका क्योंकि वे सचमुच ही असमर्थ थे।

आस पास मकान कम न थे और लाल भी कम न थे। और जहाँ मैं खड़ा था, वहाँ से प्रेमचन्द जी का मकान मुश्किल से बीस गज निकला;

लेकिन उस रोज मुझे संध्यान्त श्रेणी से प्रेमचन्द जी तक के उस बीस गज के दुर्लभ अन्तर को लॉघने में काफी देर लगी। और क्या इसे एक संगोष्ठी ही कहूँ कि अन्त में जिस व्यक्ति के नेतृत्व का सहारा थामकर मैं उन बीस गजों को पार कर प्रेमचन्द जी के घर पर आ लगा वह कुलशील की दृष्टि से समाज या उच्छिष्ट ही था ?

मैंने अचानक ही उससे पूछा था—भाई, प्रेमचन्द जी का घर बता सकते हो ?

उसने कहा—सुंशी प्रेमचन्द ?

किन्तु मैं किसी प्रकार के सुंशीपन की मार्फत तो प्रेमचन्द जी को जानता न था। मैंने कहा—अच्छा, सुंशी ही सही।

‘वह तो है’ यह कहकर वह आदमी उठा और मेरे साथ बताने चल दिया। मैंने कहा—ठहरो, जरा सामान ले लूँ। वह व्यक्ति इस पर मेरे साथ-साथ आया, बिना कुछ कहे मुझे मेरे हाथ से सामान उसने ले लिया। और प्रेमचन्द जी के मकान के जीने के आगे उसे रखकर बोला—घर यह है। अब गुहार लो।

मैंने आवाज दी। वह आवाज इस योग्य न रही होगी कि दूसरी मंजिल पर चढ़कर द्वार-दीवार लॉघती हुई भीतर तक पहुँच जाय। इसलिए उस व्यक्ति ने तत्पर होकर पुकारा—बाबू जी ! बाबू जी !

थोड़ी देर बाद जीने के ऊपर से आवाज आई—कौन राहब है ?

“मैं जैनेन्द्र।”

“आओ भाई”।

(४)

जीने के नीचे से झोंकने पर मुझे जो कुछ ऊपर दीखा उसमें मुझे बहुत धक्का लगा। जो सज्जन ऊपर खड़े थे उनकी बड़ी घनी गूँछें थीं; पॉच रुपये वाली लाल-इमली की चादर ओढ़े थे जो काफ़ी पुरानी और चिकनी थी; बालों ने आगे आकर माथे को कुछ ढँक-सा लिया था और माथा छोटा

मालूम होता था । सिर ज़रूरत से छोटा प्रतीत हुआ । मामूली धोती पहने थे जो घुटनों से ज़रा नीचे तक आ गई थी । आँखों में खुमारी भरी दीखी मैंने जान लिया कि प्रेमचन्द यही हैं । इस परिज्ञान से बचने का अवकाश न था । प्रेमचन्द जानकर मेरे मन को कुछ सुख उस समय नहीं हुआ । क्या जीते जी प्रेमचन्द इनको ही मानना होगा ? इतनी दूर से, इतनी आस बाँध कर क्या इन्हीं मूर्ति के दर्शन करने मैं आया हूँ ? एक बार तो जी मैं आया कि अपने मन के असली रमणीक प्रेमचन्द के प्रति आस्था कायम रखनी हो तो मैं यहाँ से लौट ही क्यों न जाऊँ ? प्रेमचन्द के नाम पर यह सामने खड़ा व्यक्ति साधारण, इतना स्वल्प, इतना देहाती मालूम हुआ कि—

इतने में उस व्यक्ति ने फिर कहा—आओ भाई, आ जाओ ।

मैं एक हाथ में बक्स उठा जीने पर जो चढ़ने लगा कि उस व्यक्ति ने भटपट आकर उस बक्स को अपने हाथ में ले लेना चाहा । बक्स तो ख़ैर मैंने छीनने न दिया, लेकिन तब वह और दो-एक छोटी-मोटी चीज़ों को अपने हाथ में थामकर जीने से मुझे ऊपर ले गए ।

घर मुख्यवस्थित नहीं था । ऑर्गेन में पानी निःश्वेद्य फैला था । चीज़ें भी ठीक अपने-अपने स्थान पर नहीं थीं । पर पहली निगाह ही यह जो कुछ दीखा, दीख सका । आगे तो मेरी निगाह इन बातों को देखने के लिए खाली ही नहीं रही । थोड़ी ही देर में मुझे भूल चला कि यह तनिक भी पराई जगह है । मेरे भीतर की आलोचनाशक्ति ने कुछ देर में सुरम्मा सोई ।

सब काम छोड़ प्रेमचन्द जी मुझे लेकर बैठ गए । सात बज गए, साढ़े-सात बज गए, आठ होने आए, बातों का सिलसिला टूटना ही न था । इस बीच मैं बहुत कुछ भूल गया । यह भूल गया कि यह प्रेमचन्द हैं, हिन्दी के साहित्य राम्राट्ट हैं । यह भी भूल गया कि कि मैं उसी साहित्य के तट पर मौनक खड़ा अनजान बालक हूँ । यह भी भूल गया कि क्षण भर पहले इस व्यक्ति की मुद्रा पर मेरे मन में आशीर्ष, अनास्था उत्पन्न हुई थी । देखते-देखते बातों-बातों में मैं एक अत्यन्त घनिष्ठ प्रकार की आत्मीयता में धिर कर ऊपरी सब बातों को भूल गया ।

उस व्यक्ति की बाहरी अनाकर्षकता उस क्षण में जाने किम प्रकार सुभे अपने आप में सार्थक वस्तु जान पड़ने लगी । उनके व्यक्तित्व का बहुत कुछ आकर्षण उसी अ-कोमल आन-वान में था । अपने ही जीवन-इतिहास की वह प्रतिमा थे । उनके चेहरे पर बहुत कुछ लिखा था जो पढ़ने योग्य था । मैं सोचा करता हूँ कि बादाम की मीठी गिरी के लिए, उस गिरी की मिठास के लिए, उस मिठास की रक्षा के लिए क्या यह नितांत उचित और अनिवार्य नहीं है कि उसके ऊपर का छिलका खूब कड़ा हो । मैं मानता हूँ कि उस छिलके को कड़ा होने का अवकाश, वैसी सुविधा न हो; तो बादाम को कभी बादाम बनने का सौभाग्य भी नसीब न हो ।

इस जगह आकर प्रेमचन्द की मेरी अपनी काल्पनिक मूर्तियाँ जो अति-शय छटामयी और प्रियदर्शन थीं एकदम टह कर चूर-चूर हो गईं और सुभे तनिक भी दुःख नहीं होने पाया । माया सत्य के प्रकाश पर टूट बिखरे तो दुःख कैसा । आते ही एक डेढ़ घण्टे के करीब बातचीत हुई और फलतः प्रेमचन्द के प्रति मेरी आत्मा इतनी पुष्ट हो गई कि उसके बाद किसी भी वेश-भूषा में, रंग-रूप में वह उपस्थित क्यों न होते, अकुटित भाव से उनके चरण छुए बिना मैं न रहता ।

मैं यह देखकर विस्मित हुआ कि आधुनिक साहित्य की प्रवृत्ति से वह कितने घनिष्ठ रूप में अवगत हैं । योरोपीय साहित्य में जानने योग्य उन्होंने जाना है । जानकर ही नहीं छोड़ दिया, उसे भीतर से पहचाना भी है और फिर परखा और तौला है । वह अपने प्रति सचेत हैं, Consistent हैं स्वनिष्ठ हैं ।

मैंने कहा—वज्जाली साहित्य हृदय को अधिक छूता है—इससे आप सहमत हैं ? तो इसका कारण क्या है ?

प्रेमचन्द जी ने कहा—सहमत तो हूँ । कारण, उसमें स्त्री-भावना अधिक है । मुझ में वह काफ़ी नहीं है ।

सुनकर मैं उनकी ओर देख उठा । पृच्छा—स्त्रीय है, इसीसे वह साहित्य हृदय को अधिक छूता है ?

बोले—हाँ तो । वह जगह-जगह Reminiscent (स्मरणशील) हो जाता है । स्मृति में भावना की तरलता अधिक होती है, संकल्प में भावना का काठिन्य अधिक होता है । विधायकता के लिए दोनों चाहिए—

कहते-कहते उनकी आँखें मुझसे पार कहीं देखने लगी थीं । उस समय उन आँखों की सुर्खी एकदम गायब होकर उनमें एक प्रकार की पारदर्शी नीलिमा भर गई थी । मानो अब उनकी आँखों के सामने जो हो, स्वप्न हो । उनकी वाणी में एक प्रकार की भीगी कातरता बजने लगी । वह स्वर मानो उच्छ्वास में निवेदन करता हो कि 'मैं कह तो रहा हूँ पर जानता मैं भी कुछ नहीं हूँ । शब्द तो शब्द हैं; तुम उन पर मत रुकना । उनके अगोचर में जो भाव ध्वनित होता हो उसी में पहुँच कर जो पाओगे पाओगे । वहीं पहुँचो, हम तुम पर रुको नहीं । राह में जो है बाधा है । लौघते जाओ, लौघते जाओ । उल्लंघित होने में ही बाधा की सार्थकता है ।'

बोले—जैनेन्द्र, मुझे कुछ ठीक नहीं मालूम । मैं बङ्गाली नहीं हूँ । वे लोग भावुक हैं । भावुकता में जहाँ पहुँच सकते हैं, वहाँ मेरी पहुँच नहीं । मुझमें उतनी देन कहाँ ? ज्ञान से जहाँ नहीं पहुँचा जाता, वहाँ भी भावना से पहुँचा जाता है । वहाँ भावना से ही पहुँचा जाता है । लेकिन जैनेन्द्र मैं सोचता हूँ काठिन्य भी चाहिए—

कहकर प्रेमचन्द जैसे कन्या की मौँति लज्जित हो उठे । उनकी मूर्छें इतनी धनी थीं कि बेहद । उनमें संकोच वाला तब भी रहे होंगे । फिर भी मैं कहता हूँ, वह कन्या की मौँति लज्जा में धिर गए । बोले—जैनेन्द्र, रवीन्द्र शस्त्र दोनों महान् हैं । पर हिन्दी के लिए क्या वही रास्ता है; शायद नहीं । हिन्दी राष्ट्रभाषा है । मेरे लिए तो वह राह नहीं ही है ।

उनकी वाणी में उस समय स्वीकारोक्ति (Confession) ही वज्रती मुझे सुन पड़ी । गर्वोक्ति की तो वहाँ सम्भावना ही न थी ।

बातों का सिलसिला अभी और भी चलता लेकिन भीतर से खबर आई कि अभी डॉक्टर के यहाँ से दवा तक लाकर नहीं रखी गई है, पेसा हो क्या रहा है ! दिन कितना चढ़ गया, क्या इसकी भी खबर नहीं है ?

प्रेमचन्द अग्रप्रत्यक्षित भाव से उठ खड़े हुए। बोले—जरा दवा ले आऊँ, जैनेन्द्र। देखो, बातों में कुछ ख्याल ही न रहा।

कहकर इतने जोर से कहकहा लगाकर हँसे कि छत के कोनों में लंग मकड़ी के जाले हिल उठे। मैं तो मौनचक रहा ही। मैंने इतनी खुली हँसी जीवन में शायद ही कभी सुनी थी।

बोले—और तुम भी तो अभी शौच नहीं गये होगे। वाह, यह खूब रही! और हँसी का वह कहकहा और भी द्विगुणित वेग से घर भर में घूँज गया। अनंतर, मेरे देखते-देखते लपककर स्लीपर पहने, आले में से शीशी उठाई और उन्हीं कपड़ों दवाई लेने बाहर निकल गये।

मेरे मन पर प्रेमचन्द के साक्षात्कार की पहली छाप यह पड़ी कि यह व्यक्ति जो भी है, उससे तनिक भी अन्यथा दीखने का इच्छुक नहीं है। इसे अपने महत्त्व या दूसरों के सम्मान में आसक्ति नहीं है। इस व्यक्ति को अपने सम्बन्ध में इतना ही पता है कि कोटि-कोटि आदमियों के बीच में वह भी एक आदमी है। उससे अधिक कुछ होने का, या पाने का वह दावेदार न बनेगा। मानवोचित सम्मान का हक्कदार वह है, और बस; उससे न कम न ज्यादा।

उन दिनों अपने सरस्वती प्रेस, काशी से 'हंस' निकालने का निश्चय हो रहा था। मैंने पूछा कि प्रेस छोड़कर, अपने गाँव का घर छोड़कर, यहाँ लखनऊ में नौकरी करें, ऐसी क्या आपके साथ कोई लाचारी है?

उनसे यह मेरी पहली मुलाकात थी। हममें कोई समानता न थी। मेरा यह प्रश्न धृष्टतापूर्ण समझा जा सकता था। लेकिन मैंने कहा न कि पहले ही अवसर पर उनके प्रति मैं अपनी सब दूरी खो बैठा था। मैं साख छोटा होऊँ, पर प्रेमचन्द जी इतने बड़े थे कि अपनी उपस्थिति में वह मुझे तनिक भी अपने तर्ई हीन अनुभव नहीं होने देते थे। प्रश्न के उत्तर में निस्संकोच और अंकुशित भाव से अपनी आर्थिक अवस्था अथवा दुरवस्था सब कह सुनाई। तब मुझे पता चला कि यह प्रेमचन्द जो लिखते हैं वह केवल लिखते ही नहीं हैं, उसको मानते भी हैं, उस पर जीते भी हैं।

असहयोग में उन्होंने नौकरी छोड़ दी थी। कुछ दिनों तो वह 'असहयोग' ही एक काम रहा। फिर क्या करें? कुछ दिनों कानपुर विद्यालय में अध्यापकी की। फिर काशी विद्यापीठ में आये। आन्दोलन तब मध्यम पड़ गया था। सोचने लगे, कहीं ऐसा तो नहीं है कि मैं और मेरा वेतन विद्यापीठ पर बोझ हो रहा हो। इस तरह के रोच-विचार में उसे छोड़ दिया। अब क्या करें?

क्यों, मैंने कहा—आपके हाथ में तो कलम थी। फिर प्रश्न कैसा कि क्या करें?

नहीं जैनेन्द्र, वह बोले—तुम्हारा ख्याल ठीक नहीं है। यह मुल्क विलायत नहीं है। विलायत हो जाय, यह भी शायद मैं नहीं चाहूँगा।

फिर बताया कि लिखने पर निर्भर रहकर काम नहीं चलता। मन भी नहीं भरता, खर्च भी पूरा नहीं होता। तबियत बेचैन हो जाती है। फिर किन-किन हालातों में से गुजरना पड़ा, यह भी सुनाया। आखिर यहाँ-वहाँ से कुछ पूँजी बटोरकर प्रेस खोला। पर बाजारवालों से निपटना न आता था। प्रेस एक गरो का कौर बन गया जो न निगला जाय, न उगलते ही बने। अपना लेना पटे नहीं, देगदारों को देना सो पड़े ही। ऐसी हालत में प्रेमचन्द जी जैसे व्यक्ति की गति अकथनीय हो गई। और कुछ न सूझा, तो प्रेस में ताला डाल घर बैठे रहे। प्रेस न चले तो न, पर जान को कब तक गुलाया जाय? पर ऐसी हालत में पैसे का अभाव ही चारों ओर दीखने लगा। और उस अभाव से धिरकर तबीयत घुटने लगी।

अब बताओ जैनेन्द्र, वह बोले—क्या अब भी नौकरी न करता? अब यह है कि रोटी तो चल जाती है। प्रेस प्रवासीलाल चलते हैं। और बोले कि प्रेस से एक मासिक पत्र निकालना तय किया है, 'हंस'। क्या राय है?

मैंने पूछा—क्यों तय किया है?

'प्रेस का पेट भरना है कि नहीं। छुपाई का काम काफ़ी नहीं आता और फिर हमारा यह साहित्य का शुगल भी चलता रहेगा।'

मैंने कहा—अच्छा तो है।

बोले—‘हंस’ को कहानियों का अखबार बनाने का इरादा है। उम्मीद तो है कि चल जाना चाहिए। ईश्वरीप्रसाद जी को जानते तो हो न ? नहीं ? खैर, शाम को ‘हंस’ का कवर-डिजाइन लाएँगे। जिन्दादिल आदमी हैं, मिलकर खुश होंगे। कहानियों का एक अखबार हिन्दी में हो, इसका वक्त आ गया है। क्यों ?

‘हंस’ के सम्बन्ध में उनको मिथ्या आशाएँ न थीं, पर वह उत्साहशील थे। ‘हंस’ के समारम्भ को लेकर वह उस समय नवयुवक की भाँति अपने को अनुभव करते थे।

पहली मुलाकात में मैं वहाँ ज्यादा देर नहीं ठहरा। सवेरे गया, शाम को चल दिया। लेकिन इसी बीच में प्रेमचन्द जी की अपनी निजता और आत्मीयता पूरी तरह प्रस्फुटित होकर मेरे सामने आ गई।

(५)

खाना खा-पीकर बोले—जैनेन्द्र, चलो दफ्तर चलते हो ?

मैं चलने को उद्यत था ही। जिस ढंग से उन्होंने इक्केवाले को पुकारा, उसको पटाय़ा, इसके में बैठते-बैठते उसके कुशल-क्षेम की भी कुल्लु खबर ले ली, जिस सहजभाव से उन्होंने उससे एक प्रकार की अपनी समकक्षता ही स्थापित कर ली—वह सब कहने की यह जगह शायद न हो, लेकिन मेरे मन पर वह बहुत ही सुन्दर रूप में अंकित है।

रास्ते में एकाएक बोले—कहो जैनेन्द्र, सामुद्रिक शास्त्र के बारे में तुम्हारी क्या राय है ?

मैंने पूछा—आप विश्वास करते हैं ?

बोले—क्या बताऊँ; लेकिन दफ्तरी एक दोस्त हैं, अच्छा हाथ देखना जानते हैं। भाई उनकी बताई कई बातें ऐसी सही बैठती हैं कि मैं नहीं कह सकता, यह सारा शास्त्र पाखण्ड है।

मैंने कहा—तो आप विश्वास करते हैं ! मैं तो कभी नहीं कर पाया।

बोले—इतने लोण इतने काल से ईमानदारी के साथ इस ओर अनुसन्धान में लगे रहे हैं, उनके परिणामों की हम अवज्ञा कर सकते हैं ?

मुझे यह सुनकर विस्मय हुआ। मैंने कहा—तो विश्वास करना ही होगा ? आप परमात्मा में जो विश्वास नहीं करते हैं।

प्रेमचन्द जी गम्भीर हो गये। बोले—जैनेन्द्र, मैं कह चुका हूँ, मैं परमात्मा तक नहीं पहुँच सकता। मैं उतना विश्वास नहीं कर सकता। कैसे विश्वास करूँ, जब देखता हूँ, बच्चा विलख रहा है, रोगी तड़प रहा है। यहाँ भूख है, बलेश है, ताप है। वह ताप इस दुनिया में कम नहीं है। तब उस दुनिया में मुझे ईश्वर का साम्राज्य नहीं दीखे, तो यह मेरा क्लेश है ? मुश्किल तो यह है कि ईश्वर को मानकर उसे दयालु भी मानना होगा। मुझे वह दयालुता नहीं दीखती। तब उस दयासागर में विश्वास कैसे हो ? जैनेन्द्र, तुम विश्वास करते हो ?

मैंने कहा—उससे बचने का रास्ता मुझे कहीं नजर नहीं आता।

प्रेमचन्द जी मौन हो गये। उनकी आँखों की पुतलियाँ स्थिर हो गईं और वहीं दूर गढ़ गईं। उस मग्न मौन की गम्भीरता ऐसी थी कि हम सब उसमें दब ही जायें।

आफ़िस पहुँचकर उन मित्र को मेरा हाथ दिखलाया गया। उन्होंने काफ़ी युक्तिपूर्ण बातें कहीं। मेरे लिए दुष्कर था कि कह डालूँ कि जो कुछ बताया गया, वह गलत है। आफ़िस से लौटते वक्त प्रेमचन्द जी ने पूछा—कहो जैनेन्द्र, अब क्या कहते हो ?

मैंने कहा—सामुद्रिक शास्त्र पर मेरी आस्था की बात पूछते हो ? वह ज्यों-की-त्यों है, यानी दृढ़ नहीं हुई।

यह बात सुनकर जैसे प्रेमचन्द जी को दुःख हुआ। दूसरों के अनुभव-ज्ञान की यह उन्हें अवस्था ही प्रतीत हुई। प्रेमचन्द जी के मन में यों मूलतत्त्व—अर्थात्, ईश्वर के सम्बन्ध में चाहे अनास्था ही हो, लेकिन मानव-जाति द्वारा अर्जित वैज्ञानिक हेतुवाद पर और उसके परिणामों पर उनको पूरी आस्था थी। असम्मान उनके मन में नहीं था। वह कुछ भी हों, कष्ट नहीं थे। दूसरों के अनुभवों के प्रति उनमें ग्रहण-शील वृत्ति थी। धर्म के प्रति उपेक्षा और सामुद्रिक शास्त्र में उनका यथा-किंचित् विश्वास—

ये दोनों वृत्ति उनमें युगवत् देखकर मेरे मन में कभी-कभी कुतूहल और जिज्ञासा भी हुई है, लेकिन मैंने उनके जीवन में अब तक इन दोनों परस्पर विरोधात्मक तत्त्वों को निभते देखा है। वह अत्यन्त स-प्रश्न थे, किन्तु तभी अत्यन्त श्रद्धालु भी थे। कई छोटी-छोटी बातों को ज्यों-का-त्यों मानते और पालते थे, कई बड़ी-बड़ी बातों में साहसी सुधारक थे।

उसी शाम रुद्रनारायण जी भी आए थे। टॉल्स्टाय के लगभग सभी ग्रन्थ उन्होंने अवगुह्य कर डाले थे। पर छापने को कोई प्रकाशक न मिलता था। इतनी लगन और मेहनत अकारण जा रही थी। छोटा-मोटा प्रकाशक तो इस काम को उठाता किस भरोसे पर, पर साधन-सम्पन्न बड़े प्रकाशक भी किनारा दे रहे थे। इस स्थिति पर प्रेमचन्द भी खिन्न थे। उनका मन वहाँ था जहाँ साहित्य की असली नब्ब है। बाजार की यथार्थताओं पर उनका मन मलिन हो आता था।

रात को जब चलने की बात आई तब बोले—तो आज ही तुम चल भी दोगे ? मैं सोचे बैठा था कुछ रोज ठहरोगे।

उनके शब्दों में कोई स्पष्ट आग्रह नहीं था। आग्रह उनके स्वभाव में ही नहीं था। किसी के जाने-अनाने की सुविधा-व्यवस्था के बीच में वह कभी अपनी इच्छाओं को नहीं डालते थे। किसी के काम में अड़भन बनने से वह बचते थे। यहाँ तक कि लोगों से मिलते-जुलते असमंजस होता था कि कहीं मैं उनका हर्ज न कर रहा हों। आज के कर्मव्यस्त युग में यह उनके स्वभाव की विशेषता बहुत ही मूल्यवान् थी। चाहे साहित्य-रसिकों को यह थोड़ी बहुत अखरे ही।

(६)

फिर सन् '३० का राष्ट्रीय आंदोलन आ गया जिसमें बहुत लोग जेल पहुँचे। इस बीच 'हंस' निकल गया ही था। प्रेमचन्द जी उसके तो संपादक हो थे; इधर-उधर भी लिखते थे; आंदोलन में योग देते थे; और 'ग़बन' उपन्यास तैयार कर रहे थे। यह भाग्य ही हुआ कि वह जेल नहीं गए।

उनका जेल के बाहर रहना ज्यादा कठिन तपस्या थी। जेल में मैंने जो उनके पत्र पाए उनसे मैंने जाना कि प्रेमचन्द जी में मैंने क्या निधि पाई है। आरम्भ में ही प्रेमचन्द जी ने सूचना दी—‘मेरी पत्नी जी भी पिकेटिंग के जुर्म में दो महीने की सजा पा गई हैं। कल फ़ैसला हुआ है। इधर पन्द्रह दिन से इसी में परेशान रहा। मैं जाने का इरादा ही कर रहा था पर उन्होंने खुद जाकर मेरा रास्ता बन्द कर दिया।’

उनके पत्रों में हिन्दी-साहित्य की विहंगम आलोचना रहा करती थी, कुछ अपने मन की और स्थिति की, सुख-दुःख की बातें रहा करती थीं। एक पत्र में लिखा—

‘...‘शवन’ अभी तैयार नहीं हुआ, अभी सौ पृष्ठ और होंगे। यह एक सामाजिक घटना है। मैं पुराना हो गया हूँ और पुरानी शैली को निभाए जाता हूँ। कथा को बीच से शुरू करना या इस प्रकार शुरू करना कि जिसमें ड्रामा का चमत्कार पैदा हो जाय, मेरे लिए मुश्किल है।’

मंगलाप्रसाद पारितोषिक पर लिखा—‘पुरस्कारों का विचार करना मैंने छोड़ दिया। अगर मिल जाय तो ले लूँगा, पर इस तरह जैसे पड़ा हुआ धन मिल जाय। (अमुक) को या (अमुक) पा जाँय, मुझे समान हर्ष होगा।’

आगे लिखा—‘मैं तो कोई स्कूल नहीं मानता। आपने ही एक बार प्रनाद-स्कूल प्रेमचन्द-स्कूल की चर्चा की थी। शैली में जरूर कुछ अन्तर है मगर वह अन्तर कहाँ है यह मेरी समझ में खुद नहीं आता।...’ प्रसाद जी के यहाँ गम्भीरता और कवित्व अधिक है। Realist हममें से कोई भी नहीं है। हममें से कोई भी जीवन को उसके यथार्थ रूप में नहीं दिखाता बल्कि उसके वांछित रूप ही में दिखाता है। मैं नग्न यथार्थवाद का प्रेमी भी नहीं हूँ।’

×

×

×

किसी को अपनाने का उनका तरीका ही अलग था। इस पत्र में मुझे अपनाया क्या बनाया ही गया है। पर सम्पादकीय रवादारी देखते ही बनती है। मैं तो इस पर पानी-पानी होकर रह गया था। तिस पर यह कि पहली ही मुलाकात के बाद यह लिखा गया था —

‘प्रिय जैनेन्द्र जी !

मैं थर-थर काँप रहा हूँ कि आप ‘हंस’ में पुस्तकों की आलोचना न पावेंगे तो क्या कहेंगे। मैंने आलोचना भेज दी थी। कह दिया था इसे अवश्य छापना। पर मैनेजर ने पहले तो कई लेख इधर-उधर के छाप डाले और पीछे से स्थान की कमी पड़ गई। मेरी एक कहानी जो राष्ट्रीय रंग में थी, रह गई। आपकी कहानी भी रह गई। अब वे सब क्रमवारी अंक में जा रही हैं, क्षमा कीजिएगा।

‘शवन’ छप गया है। वाइडिंग होते ही पहुँचेगा। उस पर मैं आपकी दोस्ताना राय चाहूँगा।

भवदीय,

धनपत राय’

×

×

×

उनकी व्यावसायिक स्थिति और मानसिक चिन्ता का अन्दाज़ इस पत्र से कीजिए—

‘प्रिय जैनेन्द्र,

तुम्हारा पत्र कई दिन हुए मिला। मैं आशा कर रहा था देहली (वर) से आ रहा होगा पर आया लाहौर (जेल) से। खैर, लाहौर (जेल) मुलतान (जेल) से कुछ कम दूर है। उससे कई दिन पहले मुलतान मैंने एक पत्र भेजा था। शायद वह लौट कर आ गया हो, तुम्हें मिल गया हो। अच्छा मेरी गाथा सुनो। ‘हंस’ पर ज़मानत लगी। मैंने समझा था आर्डिनेन्स के साथ ज़मानत भी समाप्त हो जायगी। पर नया आर्डिनेन्स आ गया और उसी के साथ ज़मानत भी बहाल कर दी गई। जून और जुलाई का अंक हमने छापना शुरू कर दिया है, पर मैनेजर साहब जब नया डिक्लेरेशन देने गये तो मैजिस्ट्रेट ने पत्र जारी करने की आज्ञा न दी, ज़मानत माँगी। अब मैंने गवर्मेंट को एक स्टेटमेंट लिखकर भेजा है। अगर ज़मानत उठ गई तो पत्रिका तुरन्त ही निकल जायगी। छप, कट, सिलकर तैयार रखी है। अगर आज्ञा न दी गई तो समस्या ठेकी हो जायगी। मेरे पास न रुपये हैं,

न प्रॉमेसरी नोट, न सिक्योरिटी । किसी से कर्ज लेना नहीं चाहता । यह शुरू साल है, चार-पाँच सौ बी० पी० जाते, कुछ रुपये हाथ आते । लेकिन वह नहीं होना है ।

‘इस बीच मैंने ‘जागरण’ को ले लिया है । जागरण के बारह अंक निकले लेकिन ग्राहक-संख्या दो सौ से आगे न बढ़ी । विज्ञापन तो व्यासजी ने बहुत किया लेकिन किसी बजह से पत्र न चला । उन्हें उस पर लगभग पन्द्रह सौ का घाटा रहा । वह अब बन्द करने जा रहे थे । मुझे बोले, यदि आप इसे निकालना चाहें तो निकालें । मैंने उसे ले लिया । साप्ताहिक रूप में निकालने का निश्चय कर लिया है । पहला अंक जन्माष्टमी से निकलेगा । तुम्हारा इरादा भी एक साप्ताहिक निकालने का था । यह तुम्हारे लिए ही सामान है । मैं जब तक इसे चलाता हूँ । फिर यह तुम्हारी ही चीज है । धन का अभाव है, ‘हंस’ में कई हजार का घाटा उठा चुका हूँ । लेकिन साप्ताहिक के प्रलोभन को न रोक सका । कोशिश कर रहा हूँ कि सर्वसाधारण के अनुकूल पत्र हो । इनमें भी हजारों का घाटा ही होगा । पर कल क्या । यहाँ तो जीवन ही एक लम्बा घाटा है । यह कुछ चल जायगा तो प्रेस के लिए काम की कमी की शिकायत न रहेगी । अभी तो मुझे ही पिसना पड़ेगा, लेकिन आमदनी होने पर एक सम्पादक रख लूँगा । अपना काम केवल एडिटोरियल लिखना होगा ।

‘कर्मभूमि’ के तीस फार्म छप चुके हैं, अभी करीब छः फार्म बाकी हैं । अब उसे जल्द समाप्त करता हूँ । सबसे पहले तुम्हारे पास भेजी जायगी और तुम्हारे ही ममताशून्य फैसले पर मेरी कामयाबी या नाकामी का निर्णय है ।

“.....” हथर पण्डित श्रीराम शर्मा का शिकार, स्वामी सत्यदेव जी की कहानियों का संग्रह, डॉ० रवीन्द्रनाथ की ‘पोडशी’ आदि पुस्तकें निवृत्ती हैं । बाबू वृन्दावनलाल जी का ‘कुण्डली-चक्र’ बड़े शौक से पढ़ा । लेकिन पढ़कर मन उभरा नहीं । गर्मी नहीं मिली, न चुटकी, न खटक । शायद मुझ में भावनाशून्यता का दोष हो ।”

×

×

×

एक उलहने का पत्र देखिए—

‘प्रिय जैनेन्द्र,

आदाब अर्ज ! भाई बाह ! मानता हूँ । जून गया, जुलाई गया और अगस्त का मीटर भी जाने वाला है । जुलाई बीम तक निकल जायगा । लेकिन हज़ूर को याद ही नहीं । क्यों याद आये । बड़े आदमी होने में यही तो ऐश है । रुपए तो अभी कहीं मिले नहीं । लेकिन यश तो मिल ही गया है । और यश के धनी से क्या कुछ (कम) मगरूर और भुलक्कड़ होते हैं ।

“अच्छा, दिल्लीगी छोड़ो । यह बात क्या है ? तुम क्यों मुझसे तने बैठे हो ? न कहानी भेजते हो, न खत भेजते हो । कहानी न भेजो, खत तो भेजते रहो । मैं तो इधर बहुत परीशान रहा । याद नहीं आता अपनी कथा कह चुका हूँ । बेटी के पुत्र हुआ और उसे प्रसूत पुर ने पकड़ लिया । मरते-मरते बच्ची । अभी तक अधमरी-भी है । बच्चा भी किसी तरह बच गया । आज बीस दिन हुए यहाँ आ गई है । उसकी माँ दो महीने उसके साथ रही । मैं अकेला रह गया था । बीमार पड़ा, दाँतों ने कष्ट दिया महीनों उसमें लगे । दस्त आए और अभी तक कुछ-न-कुछ शिकायत बाकी है । दाँतों के दर्द से भी गला नहीं छूटा । बुढ़ापा स्वयं रोग है । और अब मुझे उसने स्वीकार करा दिया कि अब मैं उसके पंजे में आ गया हूँ ।

काम की कुछ न पूछो । बेहूदा काम कर रहा हूँ । कहानियाँ केवल दो लिखी हैं, उर्दू और हिन्दी में । हाँ, कुछ अनुवाद का काम किया है ।

तुमने क्या कर डाला, अब यह बताओ । (वह प्रबन्ध) निभा जाता है या नहीं । कोई नई चीज क्या आ रही है । बच्चा कैसा है, भगवतीदेवी कैसी हैं, माता जी कैसी हैं ? महात्मा जी कैसे हैं ? सारी दुनिया लिखने को पड़ी है, तुम खामोश हो !

‘सरस्वती’ में वह नोट तुमने देखा ? आज...मालूम हुआ कि यह (अभुक्त) जी की दया है । ठीक है । मैं तो खैर बूढ़ा हो गया हूँ । और जो कुछ लिख सकता था लिख चुका और मित्रों ने मुझे आस्मान पर भी चढ़ा दिया । लेकिन तुम्हारे साथ यह क्या व्यवहार ! भगवती प्रसाद वाजपेयी

को कहानी बहुत सुन्दर थी। और इन (चतुरसेन) को हो क्या गया है... कि 'इस्लाम का विप-वृक्ष' लिख डाला इसकी एक आलोचना तुम लिखो और वह पुस्तक मेरे पास भेजो। इस कम्युनल प्रॉपेगेंडा का जोरों से मुकाबला करना होगा।...

उनकी कैसी ही अवस्था हो, पर साहित्य में कदर्य और कदर्य का विरोध करने में उन्हें हिचक न होती थी।

×

×

×

परिस्थितियों ने उन पर कमी रहम नहीं किया। प्रेमचंद जी ने भी कभी उनसे रहम नहीं माँगा। वह जूझते ही रहे। सारी उम्र इसी में गुजारी फिर भी नई विपत्तियों का सामना करते उन्हें डर न होता था। वह बचते न थे, कर्तव्य से कतराते न थे। उन्हें पैसे का लोभ न था, हाँ, घाटे का डर तो था ही। आमदनी चाहे कौड़ी न हो, पर ऊपर से घाटे का भूत तो मुँह फाड़ कर खाने न दौड़े। इतना ही चाहिए। पर इतना भी नहीं हुआ। इस घाटे ने उनकी कमर तोड़ दी। 'हंस' चलाया, 'जागरण' चलाया। दोनों में भावना सेवा की भी थी। मैं कह सकता हूँ कि उनमें व्यवसाय की भावना नहीं के बराबर थी। पर दोनों उनका मन और तन तो लेते ही रहे, तिस पर उनसे धन भी माँगते रहे। धन उनके पास देने और देते रहने को कहाँ था। आखिर सिनेमा की ओर से आए निमन्त्रण को उन्हें सुनना पड़ा। २०-४-३४ को उन्होंने पत्र लिखा—

‘प्रिय जैनेन्द्र,

‘तुम्हारा पत्र ऐन इन्तजार की हालत में मिला। तुमसे सलाह करने की खास जरूरत आ पड़ी है। अभी न बताऊँगा, जब आओगे, तभी उस विषय में बातें होंगी। मगर तुम्हें क्यों सस्पेंस की हालत में रखूँ? बम्बई की एक फ़िल्म-कम्पनी मुझे बुला रही है। बेतन की बात नहीं, कन्ट्राक्ट की बात है। ८,०००) साल। मैं उस अवस्था को पहुँच गया हूँ जब मेरे लिए इसके सिवा कोई उपाय नहीं रह गया है कि या तो वहाँ चला आऊँ या अपने उपन्यास को बाज़ार में बेचूँ। मैं इस विषय में तुम्हारी राय

जरूरी सम्भक्ता हूँ। कम्पनी वाले हाजिरी की कोई कौद नहीं रखते। मैं जो चाहे लिखूँ, जहाँ चाहे लिखूँ, उनके लिए चार-पाँच सिनेरियो तैयार कर दूँ। मैं सोचता हूँ कि मैं एक साल के लिए चला जाऊँ। वहाँ साल-भर रहने के बाद कुछ ऐसा कन्ट्राक्ट कर लूँगा कि मैं यहीं बैठे-बैठे तीन-चार कहानियाँ लिख दिया करूँ और चार-पाँच हजार रुपये मिल जाया करें। उससे 'जागरण-हंस' दोनों मजे में चलेंगे और पैसों का संकट जायगा। फिर हमारी दोनों चीजें थड़ल्ले से निकलेंगी। लेकिन तुम यहाँ आ जाओ तब कतई राय होगी। अभी तो मन दौड़ा रहा हूँ।'

इसके कुछ ही दिन बाद दूसरा पत्र मिला—'भले आदमी, मकान छोड़ा था तो डाकिए से इतना तो कह दिया होता कि मेरी चिट्ठियाँ फलों पते पर भेज देना। बस बोरिया-वक्रचा सँभाला और चल खड़े हुए। मैंने तुम्हारे जवाब में एक बड़ा-सा डिप्लेड खत लिखा था। वह शायद मुर्दा चिट्ठियों के दफ्तर में पड़ा होगा।... (मैंने शायद तुम्हें लिखा है, कि) मुझे बम्बई कम्पनी बुला रही है। क्या सलाह है? मुझे तो कोई हरज नहीं मालूम होता अगर वेतन सात, आठ सौ मिले। साल-दो-साल करके चला आऊँगा। मगर मैंने अभी जवाब नहीं दिया है। उनके दो तार आ चुके हैं। प्रसाद जी की सलाह है, 'आप बम्बई न जायें।' तुम्हारी भी अगर यही राय है तो मैं न जाऊँगा। बौहरी जी कहते हैं, जरूर जाइये। और चिरसंगिनी दरिद्रता भी कहती है कि जरूर चलो। जीवन का एक यह भी अनुभव है।'

आखिर फ़िल्मी लाइन में गए ही। लेकिन अनुभव ने बताया कि वहाँ के योग्य वह न थे। फ़िल्म और प्रेमचंद, दोनों में पटना सम्भव न हुआ। वहाँ से उन्होंने लिखा—

'मैं जिन इरादों से आया था उनमें एक भी पूरा होता नज़र नहीं आता। ये प्रोड्यूसर जिस ढंग की कहानियाँ बनाते आये हैं, उस लीक से जौ-भर नहीं हट सकते। Vulgariry को ये Entertainment Value कहते हैं। अद्भुत ही इनका विश्वास है। राजा-रानी, उनके मन्त्रियों के पड्यन्त्र, नकली लड़ाई, बोसेबाजी—ये ही उनके मुख्य साधन हैं। मैंने

सामाजिक कहानियाँ लिखी हैं जिन्हें शिक्षित समाज भी देखना चाहे। लेकिन उनको फ़िल्म करते इन लोगों को सन्देह होता है कि चलें या न चलें। यह साल तो पूरा करना है ही। कर्ज़दार हो गया था, कर्ज़ पटा दूँगा, मगर और कोई लाभ नहीं। उपन्यास (गोदान) के अन्तिम पृष्ठ लिखने बाकी हैं। उधर मन ही नहीं जाता। (जी चाहता है) यहाँ से छुट्टी पाकर अपने पुराने अड्डे पर जा बैटूँ। वहाँ धन नहीं है, मगर सन्तोष अवश्य है। यहाँ तो जान पड़ता है, जीवन नष्ट कर रहा हूँ।'

उनका एक फ़िल्म निकला था, 'मजदूर'। उसका जिक्र करते हुए एक पत्र में लिखा—

'मजदूर तुम्हें पसन्द न आया। यह मैं जानता था। मैं इसे अपना कह भी सकता हूँ, नहीं भी कह सकता। इसके बाद ही एक रोमांस जा रहा है। वह भी मेरा नहीं है। मैं उसमें बहुत थोड़ा-सा हूँ। 'मजदूर' में भी इतना ज़रा-सा आया हूँ कि नहीं के बराबर। फ़िल्म में डाइरेक्टर सब कुछ हैं। लेखक कलम का वादशाह ही क्यों न हो, यहाँ डाइरेक्टर की अमलदारी है। और उसके राज्य में उसकी हुकूमत नहीं चल सकती। हुकूमत माने तभी वह रह सकता है। वह यह कहने का साहस नहीं रखता, 'मैं जनरल को जानता हूँ, आप नहीं जानते।' इसके विरुद्ध डाइरेक्टर ख़ोर से कहता है, 'मैं जानता हूँ, जनता क्या चाहती है। और हम यहाँ जनता की इसलाह करने नहीं आए हैं। हमने व्यवसाय खोला है, धन कमाना हमारी गरज है। जो चीज़ जनता माँगेगी वह हम देंगे।' इसका जवाब यही है—'अच्छा साहब, हमारा सलाम लीजिए। हम घर जाते हैं।' वहीं मैं कर रहा हूँ। मर्द के अन्त में काशी में बन्दा उपन्यास लिख रहा होगा। और कुछ सुझाव नई कला न सीख सकने की भी सिफ़त है। फ़िल्म में मेरे मन को सन्तोष नहीं मिला। सन्तोष डाइरेक्टरों को नहीं मिलता, लेकिन वे और कुछ नहीं कर सकते, भूल मारकर पड़े हुए हैं। मैं और कुछ कर सकता हूँ, चाहे वह बेगार ही क्यों न हो। इरालिए चला जा रहा हूँ। मैं जो प्लॉट सोचता हूँ, उसमें आदर्शवाद घुस आता है और कहा जाता है उसमें Entertainment

Value नहीं होता। इसे मैं स्वीकार करता हूँ। मुझे आदमी भी ऐसे मिले जो ग हिन्दी जानें न उदूर्। अंग्रेजी में अनुवाद करके उन्हें कथा का मर्म समझाना पड़ता है और काम कुछ नहीं बनता। मेरे लिए अपनी वही पुरानी लाइन मजे की है। जो चाहा लिखा।

“...मेरा जीवन यहाँ भी वैसा ही है जैसा काशी में था। न किमी से दोस्ती न किमी से मुलाकात। मुल्ला की दौड़ मस्जिद। स्टूडियो गये, घर आये। हिन्दी के दो चार प्रेमी कभी-कभी आ जाते हैं। बस।...”

इस भांति फ़िल्म-लाइन से किनारा लेकर उन्हें लौट आना पड़ा। इसके बाद कुछ बहुत ज्यादा दिन उन्हें इस दुनिया में रहने के लिए नहीं मिले।

(७)

मुझे याद है, मुल्तान जेल में उनका एक पत्र मिला था। लिखा था—
‘कभी-कभी यहाँ बहुत सूता मालूम होता है, जैनेन्द्र। जी होता है, तुम कुछ लोगो से गले मिल लूँ और फिर जिन्दगी से मखसत हो जाऊँ। तुम बाहर कब आओगे? तुम इतनी दूर गड़े हो कि मैं तड़फड़ा कर रह जाता हूँ।...’

उस पत्र को पढ़कर मुझे सुख नहीं हुआ था। मालूम हुआ था जैसे जीवन में रसानुभूति उन्हें स्वल्प रह गई है। धन की, प्रतिष्ठा की, पद-मर्यादा की उन्हे लालमा न थी; फिर भी साहित्यिक दिशा में उनकी आकांक्षाएँ उड़ती ही थी। साहित्य को लेकर लोक-संग्रहात्मक कार्यों और योजनाओं की ओर रह-रह कर उनकी रुचि जाती थी। पर व्यवहार-दक्षता का उनमें अभाव था और वातावरण इतना जाग्रत न था कि उनका आवाहन करे, उनका उपयोग ले ले। अतः इच्छाएँ उनमें उठतीं और वे फलवती न हो पातीं। परिणामतः एक व्यर्थता, निष्फलता, पराजय का भाव उनमें घर करता जाता था।

यह अनुभव करके उनको साहित्य के सार्वजनिक कार्यों की ओर खींचकर लाने की कुछ विधि की गई; पर वह प्रयोग भी विशेष सफल नहीं हुआ।

इधर शरीर में रोग घर कर चला था। जीवन के इस ह्याम ने उसमे योग दिया। वह धीमे-धीमे जीवन के उस किसारे जा लगने लगे। न कह सकूँगा कि मन की साध उनमें बुझ गई थी। बुझी न थी, पर उस पर अविश्वास की, जैसे एक परामव के भाव की राख छा गई थी। त्रिन्दगी के हाथों कम थपेड़े उन्होंने नहीं खाए थे। वे सब उनके चेहरे पर, उनकी देह पर लिखे थे। वे चोटें जिस हद तक हो सकीं प्रेमचन्द के मानस में से शुद्ध (Sub-limate) होकर साहित्य के रूप में प्रस्फुट हुई थीं। पर तलछट भी अवशेष बचा ही था। उसी ने उनके मन को किसी कठर खड़ा बना रखा था। अन्त समय में भी वह खटास पूरी तरह उनको नहीं छोड़ सकी।

किन्तु इस सम्बन्ध की चर्चा इस स्थल पर विशेष न हो सकेगी। यहाँ मैं उनके एक पत्र का उल्लेख करने का लोभ संवरण नहीं कर सकता जो उनके मन के उद्विग्न स्नेह को फन्वारे की भौँति ऊपर खिला देता है। वह माताजी के देहान्त पर उन्होंने मुझे लिखा था। माताजी की मृत्यु पर तो शायद मैं नहीं भी रोया, पर इस पत्र पर आँखें भीग ही आई—

‘प्रिय जैनेन्द्र,

‘कल तुम्हारा पत्र मिला ! मुझे यह शंका पहले ही थी। इस मर्ज में शायद ही कोई वचना है। पहले ऐसी इच्छा उठी कि दिल्ली आऊँ। लेकिन मेरे दामाद तीन दिन से आए हुए हैं और शायद बेटी जा रही है। फिर यह भी सोचा कि तुम्हें रामझाने की तो कोई बात है नहीं। यह तो एक दिन होना ही था। हाँ, जब यह सोचता हूँ कि वह तुम्हारे लिए क्या थीं, और तुम उनके काल में आज भी लड़के से बने फिरते थे, तब जी चाहता है तुम्हारे गले मिलकर रोऊँ। उनका वह स्नेह, वह तुम्हारे लिए जो-कुछ थी वह तो थी ही, मगर उनके लिए तो तुम प्राण थे, आँख थे, सब-कुछ थे। गिरले ही भागवानों को ऐसी माताएँ मिलती हैं। मैं देख रहा हूँ, तुम दुःखी हो, तुम्हारा मुँह सूखा हुआ है, संसार सूना-सूना-सा लग रहा है और चाहता हूँ यह दुःख आधा-आधा बाँट लूँ, अगर तुम

दो । मगर तुम दोगे नहीं । उस देवी का इतना ही तो तुम्हारे पास है, मुझे देकर कहाँ जाओगे ? इसे तो तुम सारे-का-सारा अपने सबसे निकट के स्थान में सुरक्षित रखोगे ।

‘काम से छुट्टी पति ही अगर आ सको तो जरूर आ जाओ । मिले बहुत दिन हो गए । मन तो मेरा ही आने को चाहता है, लेकिन मैं आया तो तीसरे दिन रस्सी तुड़ाकर भागूँगा । तुम—मगर अब तो तुम भी मेरे-जैसे हो, भाई । अब वह बेफिक्री के मजे कहाँ !

‘और सच पूछो तो मेरी ईर्ष्या ने तुम्हें अनाथ कर दिया । क्यों न ईर्ष्या करता । मैं सात वर्ष का था तब माताजी चली गई । तुम सत्ताईस वर्ष के होकर माता वाले बने रहो, यह मुझसे कब देखा जाता । अब जैसे हम वैसे तुम । बल्कि मैं तुमसे अच्छा । मुझे माता की स्मृत भी याद नहीं आती । तुम्हारी माता तुम्हारे सामने हैं और बोलती नहीं, मिलती नहीं !’

‘और तो सब ठीक है । चतुर्वेदी जी ने कलकत्ते बुलाया था कि नोगुची जापानी कवि का भाषण सुन जाओ । यहाँ नोगुची हिन्दू-युनिवर्सिटी आए, उनका व्याख्यान भी हो गया । मगर मैं न जा सका । अक्ल की बातें सुनते और पढ़ते उम्र बीत गई । ईश्वर पर विश्वास नहीं आता, कैसे श्रद्धा होती है । तुम आस्तिकता की ओर जा रहे हो । जा नहीं रहे, पक्के भगत बन रहे हो । मैं सन्देह से पक्का नास्तिक होता जा रहा हूँ ।

‘त्रेचारी भगवती अकेली हो गई ।’

‘सुनीता’ जाने कहाँ रास्ते में रह गई । यहाँ कहीं बाजार में भी नहीं । चित्रपट के पुराने अंक उठाकर पढ़े, पर मुश्किल से तीन अध्याय मिले । तुमने बड़ा जबरदस्त Ideal रख दिया । महात्माजी के एक साल मैं स्वराज्य पाने वाले आन्दोलन की तरफ । मगर तलवार पर पाँव रखना है ।’

‘तुम्हारा—धनपत राय’

[इस पत्र के अन्तिम पैरे के कारण यह कह देना आवश्यक है कि ‘सुनीता’ पूरी पढ़ने पर प्रेमचन्द जी उससे सहमत न हो सके थे ।]

(८)

प्रेमचन्द जी के स्वभाव में बहिर्मुखता चरतर से कम थी। उनके जीवन का सार्वजनिक-पक्ष इसलिए अन्त समय तक कुछ अक्षम ही बना रहा। अन्तर्मुखता भी धार्मिक प्रकार की न थी, उसके प्रकार को कुछ बौद्धिक कहना होगा। वह शंका से आरम्भ करते थे और इंग भाँति एक समस्या खड़ी करके उसका समाधान पाने आगे बढ़ते थे। फिर भी लोक-जीवन में जिन मूल-भूत नैतिक धारणाओं की स्वीकृति उन्होंने देखी, उन धारणाओं पर प्रेमचन्द जी अडिग विश्वास से डटे रहे।

बातचीत में उनके साथ अत्यन्त घनिष्ठ बातों का प्रसंग भी अक्सर आ गया है। पारिवारिक अथवा व्यक्तिगत घुत्तों को ऐसे समय उन्होंने निश्छल विश्वास के साथ खोलकर कह दिया है। उस सबके आधार पर मैं कह सकता हूँ कि उनका जीवन लगभग एक आदर्श सद्यहस्थ का जीवन था। बुद्धि द्वारा उन्होंने स्वतन्त्र और निर्बाध चिन्तन के जीवन-व्यवसाय को अपनाया सही, पर कर्म में वह अत्यन्त मर्यादाशील रहे। आर्टिस्ट के संकुचित-पच्छिमी श्रयों में उन्होंने आर्टिस्ट बनने की स्पष्टता नहीं की। यही मर्यादाशील प्रामाणिकता उनके साहित्य की धुरी है। उनके साहित्य में जीवन की आलोचना तीव्र है, चहुँमुखी है। किन्तु एक सर्वसम्मत आधारशिला है जिसको उन्होंने मनुष्यता से पकड़े रखा और जिस पर एक भी चोट उन्होंने नहीं लगने दी।

जीवन को, विशेष कर लोक-जीवन की समस्याओं को, सर्वथा बौद्धिक और नैतिक-मानसिक रूप देने का परिणाम ही यह हुआ कि जब कि वह जीवन के सफल चित्रकार, भाष्यकार, व्याख्याकार हो सके तब उस जीवन को आन्दोलित करके उसमें नवचेतन और निर्माण-प्रेरणा डालने में उतने सफल नहीं हो सके। वह जननायक, लोकसंयोजक नहीं हो सके। बात यह है कि उनके साहित्य में लोकपक्ष की जितनी प्रधानता मालूम होती है, उतनी ही गौणता उस पक्ष को उनके जीवन में प्राप्त थी। वह अन्त तक अपने-आप में एक संस्था नहीं बने, उन्होंने कोई संस्था नहीं बनाई। उनके

उपन्यासों में (गोदान को छोड़कर लगभग सब में) संस्थाएँ बनी हैं और उन संस्थाओं द्वारा लोक-जीवन के प्रश्नों का, उनके सुधार का, समाधान दिया गया है। पर प्रेमचन्द जी के जीवन के प्रकाश्य पक्ष में उसका अभाव नजर आता है।

आगामी साहित्य-समीक्षक और इतिहास-विवेचक को भीतरी कारण के प्रकाश में इस गौंट को समझना और खोलना होगा।

वह भीड़ से बचते थे। भीड़ को दिशा देने की उनमें क्षमता न थी। बात यह थी कि भीड़ में पड़कर वह उस भीड़ को समझते रह जाते थे। वह भीड़ के नहीं थे। सभा-सम्मेलनों में वह मुश्किल से ही जाते थे। वे सभा और सम्मेलन उनको पाकर भी विशेष लाभान्वित होते थे, यह नहीं कहा जा सकता। उनकी उपस्थिति अवश्य किसी भी सभा और किसी भी सम्मेलन के लिए गौरव का विषय थी, पर ऐसा लगता था कि प्रेमचन्द जी उस सभा में भाग क्या ले रहे हैं, मानो उस सभा का तमाशा देख रहे हैं।

दिल्ली में प्रान्तीय साहित्य-सम्मेलन किया और सभापति बनाया प्रेमचन्द जी को; पर वह आने को ही राजी न हों। चिट्ठी-पर-चिट्ठी दी, तार दिये। आखिर माने ही तो तार में लिखा—Well, I accept with protest.

सार्वजनिक सभाओं के प्रति जब यह रुख था तब उधर उलटा ही हाल था। इससे कुछ ज्यादा रोज पहले की बात न थी। एक सबेरे गली में टोखता क्या है कि कन्धे पर कम्बल डाले, खरामा-खरामा, चले आ रहे हैं प्रेमचन्द जी। महात्मा भगवानदीन जी और पण्डित सुन्दरलाल जी भी तब घर पर थे। सुन्दरलाल जी चबूतरे पर से दातन करते-करते बोले—देखना जैनेन्द्र, यह प्रेमचन्द जी तो नहीं आ रहे हैं।

मैंने कहा—वही तो हैं !

प्रेमचन्द जी के पास आने पर मैंने अचरज से पूछा—यह क्या क्रिस्ता है ! न तार, न चिट्ठी, और आप करिश्मे की भोंति आविर्भूत हो पड़े !

बोलें—तार की क्या जरूरत थी बारह आने पैसे कोई फालतू हैं। और देखो, तुम्हारे मकान का पता लग गया कि नहीं !

बात यह थी कि मैंने एक कार्ड में लिखा था कि क्या आप आ सकेंगे ? आएँ तो अच्छा रहे । मो प्रेमचन्द जी ने सुनाया कि—भई ! तुम्हारी चिट्ठी प्रेस पहुँचने पर कोई दो बजे मिली । टाइमटेबिल देखा, ट्रेन पाँच बजे जाती थी । इससे पहिले और कोई गाड़ी थी नहीं । उसी से चला आ रहा हूँ ।

मैंने कहा—यह क्या राजब करते हैं । पहले से कुछ खबर तो दी होती । इस तरह से तो आपको बड़ी दिक्कत हुई होगी । गनीमत मानिए कि दिल्ली बम्बई नहीं है । और ऐसे क्या आप दिल्ली से वेहद वाकिफ हैं ?

बोले—नहीं जी, सोचा तुम्हारा मकान मिल ही जायगा, सो बारह आने बचाओ क्यों ना । और मकान मिल गया कि नहीं । और दिल्ली—जिन्दगी में पहली मर्तबा आया हूँ ।

जिन्दगी में पहली बार ! मैंने अविश्वास के भाव से कहा—आप कहते क्या हैं ! तिस पर आप हैं सम्राट् !

प्रेमचन्दजी कहकहा लगा उठे । यह बात सच थी । नौकरी के सिलसिले में वह अपने इर्द-गिर्द के जिलों में ही घूमे थे । दूर जाने का न कुछ काम पड़ा, न कुछ पढ़ने दिया । सैर की छुन उनमें कमी थी नहीं । अपने सामने के ही कर्तव्य को वह महत्त्व देते रहे थे और उसी के पालन में अपनी सिद्धि मनाते थे । यह बात मेरे लिए अभूतपूर्व और अत्यन्त आश्चर्यकारक थी । इक्यावन बावन वर्ष की अवस्था में प्रेमचन्द जी—जैसा सर्वविश्रुत व्यक्ति दिल्ली में आकर यह कहे कि वह पहली बार यहाँ आया है—यह अनहोनी बात नहीं तो और क्या है !

तब चार-पाँच रोज प्रेमचन्दजी यहाँ रहे । उन दिनों लिखना-लिखाना तो होना क्या था । पण्डित सुन्दरलालजी थे, महात्मा भगवानदीन जी थे । प्रेमचन्द जी को चाहने वाले और माँगने वाले उर्दू-हिन्दी के और लोगों की कमी न थी । चर्चाओं में और पार्टियों में वे दिन ऐसे बीते कि पता भी न लगा । उन्हीं दिनों की और यहाँ की ही तो बात है कि वह पंजाबी सज्जन मिले जिन्होंने प्रेमचन्द जी को पाकर पकड़ ही तो लिया । उनकी कहानी दिलचस्प है और शिक्षाप्रद है ।

स्थानीय हिन्दी-सभा की ओर से प्रेमचन्दजी के सम्मान में सभा की जा रही थी। उन्हें अभिनन्दनपत्र भेंट होने वाला था। उस वक्त एक पंजाबी सज्जन बड़े परेशान मालूम होते थे। वह कभी सभा के मन्त्री के पास जाते थे, कभी इधर-उधर जाते थे। प्रेमचन्द जी के पास जाने की शायद हिम्मत न होती थी। प्रेमचन्दजी को उसी रात दिल्ली से जाना था। सभा का काम जल्दी हो जाना चाहिए और वह जल्दी किया जा रहा था। प्रेमचन्द जी ने अपना वक्तव्य कहने में शायद दो मिनट लगाए। सभा की कार्यवाही समाप्त-प्राय थी। तभी वह पंजाबी सज्जन उठे और सभा के सामने हाथ जोड़कर बोले—मैं प्रेमचन्दजी को आज रात किसी हालत में नहीं जाने दूँगा। उनके साथ इस सारी सभा को मैं कल अपने यहाँ आमन्त्रित करना चाहता हूँ।

लोगों को बड़ा विचित्र मालूम हुआ। तैयारी सब हो चुकी थी और प्रेमचन्द जी का इरादा निश्चित था। लेकिन वह सज्जन अपनी प्रार्थना से वाज न आए। वह बराबर हाथ जोड़ते थे और अपनी बात सुनाना चाहते थे। किन्तु सभा के लोग इस विघ्न पर कुछ अधीर थे और उन सज्जन के साथ शायद ही किसी को सहानुभूति थी। प्रेमचन्द जी इस भावुकता के प्रदर्शन से बहुत प्रभावित नहीं थे।

किन्तु उन सज्जन को कोई चीज न रोक सकी। उन्होंने हाथ जोड़कर कहा कि मेरी श्रद्धा आप लोग सुन लीजिए फिर जो चाहे आप कीजियेगा। जब से अखबार में प्रेमचन्द जी के यहाँ आने की खबर पड़ी तभी से उनके ठहरने की जगह पाने की कोशिश करता रहा हूँ। वह जगह नहीं मिली। अब इस सभा में मैं उनको पा सका हूँ। मैं उनकी तलाश करता हुआ दर्शनों की इच्छा से लखनऊ दो बार गया। एक बार बनारस भी गया। तीनों बार वह न मिल सका। कई बरस पहले की बात है। मैं कमाने के ख्याल से पूरब की तरफ़ गया था। पर भाग्य की बात कि मेरे पास जो था सब खत्म हो गया। मैं घूमता-घामता स्टेशन पर आया। सुभे कुछ सुझता न था। आगे क्या होगा। सब अँधेरा मालूम होता था। जब मैं दो रुपए और कुछ पैसे बचे थे। प्रेमचन्द जी के अफ़सानों को मैं शौक से पढ़ा करता था। यूँ ही

टहलता हुआ हॉलर की दुकान पर एक रिसाले के स्पेशल नम्बर के सफ़े लौटने-पलटने लगा। उसमें प्रेमचन्द जी का एक अफ़साना नज़र आया। मैंने रुपया फेंक रिसाला ख़रीद लिया और प्रेमचन्द जी की उस 'मन्त्र' कहानी को पढ़ गया। पढ़कर मेरे दिल की पस्ती जाती रही। हौसला खुल गया। मैं लौटकर आया और हार न मानने का इरादा कर लिया। तब से मेरी तरक्की ही होती गई है और आज यहाँ आपकी ख़िदमत में हूँ। तभी से मैं उस 'मन्त्र' कहानी के मन्त्रदाता प्रेमचन्द की तलाश में हूँ। अब यहाँ पा गया हूँ तो किसी तरह छोड़ नहीं सकता। मेरी बीबी बीमार हैं, वह उठ-बैठ नहीं सकतीं, चल फिर नहीं सकतीं। वह कब से प्रेमचन्द जी के दर्शन की आस बाँधे बैठी हैं। और फिर हाथ जोड़कर उन्होंने कहा—अब प्रैसला आप सब साहबान के हाथ है।

प्रेमचन्द जी की प्रवृत्ति रुकने की नहीं थी, लेकिन उनको रुकना पड़ा। यह घटना मेरे लिए तो आँख खोल देने वाली ही थी। यह और इस तरह की और-और बातों से प्रेमचन्द जी के दिल्ली-प्रवास के दिन सहज में वीत गये। प्रेमचन्द जी प्रसन्न मालूम होते थे। लेकिन एक बात जानकर मैं साश्चर्य असमंजस में पड़ गया। बातों-बातों में प्रगट हुआ कि इधर के बीस-तीस वर्ष में यह पहले सात दिन गये हैं, जब उन्होंने कुछ काम नहीं किया।

मैंने अत्यन्त विस्मयापन्न भाव से पूछा—आप हर रोज़ बिना नागा काम करते हैं ?

बोले—हाँ सबरे के कुछ घन्टों में तो करता ही हूँ।

तब मैं जान सका कि किस अल्लुयण साधना के बल पर यह व्यक्ति दुनिया के राग-रंगों के प्रति अलिप्त और उदासीन रह सकता था; और कि किस भाँति उसकी कीर्ति उसकी कठोर तपस्या के मोल उसको मिली थी। उस समय मुझे सन्देह हो आया कि पार्टियों और दावतों का यह समारोह भी कहीं भीतर-भीतर उसकी आत्मग्लानि का कारण तो नहीं हो रहा है। जो औरों के लिए सम्मान था वह बड़ी आसानी से इस व्यक्ति के लिए बोझ भी हो सकता था। तब उनकी ऊपरी प्रसन्नता देखकर मेरा मन तनिक भी

आश्चर्य नहीं हुआ कि पार्टियों और सम्मान-भोजनों के आधिक्य से सचमुच ही प्रेमचन्द के मन को पीड़ा नहीं हो रही है।

यहाँ एक पार्टी में हसन निजामी साहब ने प्रेमचन्द जी का अभिनन्दन करते हुए कहा था कि—‘शायद ही कोई प्रेमचन्द जी का अफ़साना, या मज़बूत होगा जो उर्दू में निकला हो और भेने न पड़ा हो। मैं ढूँढ़-ढूँढ़कर उनकी चीज़ पढ़ता हूँ। हालात में उतार-चढ़ाव होते रहते हैं। दौरे रंग बदलता है। ज़माना था कि लोगों की तथियतें बदली हुई थीं। सब पर फिरकेवारान रंग सवार था। कौन था जो न बहका हो। पर प्रेमचन्द तब तक साबित-कदम रहे। उनकी निगाह वैसी ही सही और साफ़ रही। वह किसी भोंके से नहीं डिगे...’

हसन निजामी साहब की तरफ़ से आकर ये शब्द और भी मानी रखते हैं और इन शब्दों से प्रेमचन्द जी की अलक्ष्य और मूक-सेवा का मुझे और भी सही अनुमान हुआ और मेरी श्रद्धा बढ़ गई।

लेकिन यह बात सच है कि बड़े शब्दों से कहीं अधिक उन्हें छोटी-सी सच्चाई छूती थी। जहाँ ज़िन्दगी थी, वहाँ प्रेमचन्द जी की निगाह थी। जहाँ दिखावा था, उसके लिए प्रेमचन्द के मन में उत्सुकता तक न थी। कुतुबमीनार, नई सेक्रेटरियट बिल्डिंगज़, कौंसिल-चेम्बर्स, यह अथवा वह महापुरुष—इसको देखने-जानने की लालसा उनकी प्रवृत्ति में न थी। यों हम-तुम हमों-शमों से वह बेरोक मिलने को उद्यत रहते थे।

पहली बात उनमें त्रुटि तक पहुँच गई थी। जब शान्तिनिकेतन जाने की बात आई तो उनका मन उसे पूरी तरह ग्रहण न कर सका। मैंने कहा—चलना चाहिए।

बोले—मैं तो वहाँ उस स्वर्ग की सैर करूँ यहाँ घर के लोग तकलीफ़ में दिन काटें, क्या यह मेरे लिए ठीक है ? और सबको ले चलूँ, इतना पैसा कहाँ है। और जैनेन्द्र, महाकवि रवीन्द्रनाथ तो अपनी रचनाओं द्वारा यहाँ भी हमें प्राप्त हैं। क्या वहाँ मैं उन्हें अधिक पाऊँगा ?

मैंने फिर भी कहा—शान्तिनिकेतन को अधिकार हो सकता है कि वह

आपको चाहे, आपने कर्म ऐसे किए हैं कि आप मशहूर हों। तब आप कर्मफल से बच नहीं सकते। चलिए न।

बोले—हाँ, जैनेन्द्र, यह सब ठीक है। लेकिन मैं अपने यहीं पड़ा हूँ, तुम जाओ।

मैंने कहा—हाँ, मैं तो जाऊँगा।

बोले—जरूर-जरूर जाओ। मैं तो खुद कहने वाला था कि तुम्हें जाना चाहिए। जैनेन्द्र, जवान और बूढ़े में यही तो फर्क है!

इधर जीवन के अन्तिम पर्व की ओर उन्हें थोड़ा-बहुत साहित्यिक उद्देश्य के नाते से समा-समाजों में जाने को उकसाया जा सका था। यहाँ दिल्ली साहित्य-सम्मेलन के जलसे में वह आ गए थे। आ तो गए थे लेकिन अपने को पूरी तरह निरूपयोगी भी अनुभव कर रहे थे। बोले—जैनेन्द्र, सम्मेलन के जलसे में मैं आ गया। अब बताओ क्या करूँ। मैं उनको क्या कहता चुप रह जाता था। क्या उनको मैं बताता कि उनका स्थान क्या है और कहाँ है, और लोगों की क्या-क्या आशाएँ उनके साथ बैधी हैं? लेकिन सच यह है, ऐसे मौकों पर अपनी उपस्थिति वह अयाचित अनुभव करते थे। जब लोग शब्दों को लेकर या पदों को लेकर आपस में बहस-तहस और छीन-झपट करते थे तब उनका कहीं थोड़ी ठण्डी हवा खाने का जी होता था। कहा करते थे कि इनको भी थोड़ी ठण्डी हवा इस समय खा लेना चाहिए।

साहित्य के भविष्य के बारे में बातें हुआ करती थीं। सोचा, कुछ बौद्धिक आदान-प्रदान का, परस्पर के सहयोग-क्षेत्र का विस्तार होना चाहिए। प्रान्तीय मर्यादाएँ ऐक्य-विकास पर बन्धन न होनी चाहिएँ। राष्ट्र एक है, उस ऐक्य को गहराई में अनुभूत करना होगा। इस ओर जो प्रयत्न हुए (यथा, भारतीय साहित्य-परिषद्) उनके समारंभ में प्रेमचन्द जी ने उत्साह-पूर्वक भाग लिया। पर उसमें भी उन्हें रस कम हो गया। वह अपने सह-योगियों से आशाएँ ऊँची रखते थे। वह मानव-प्रकृति का मूल्य यथार्थ से कुछ अधिक ऊँचा आँकते थे। परिणामतः जब-जब वह समाज में आए,

तभी-तब विरक्ति की भावना लेकर उन्हें फिर अपने में ही लौट जाना पड़ा ।

(६)

साधारणतया कोमलता की धारा उनमें अन्तःसलिला सरस्वती के समान अप्रकाश्य ही में बहती थी । वह रचनाओं में जिस स्पष्टता से दीखती थी, व्यवहार में उतनी ही अगोचर हो जाती थी । फिर भी हठात् वह फूटकर ऐसे प्रगट हो उठी है कि प्रेमचन्द जी को भी चकित रह जाना पड़ा है ।

एक बार की बात है । दिन अधिक नहीं हुए । सन् '३४ का साल होगा । बनारस में बेनियापार्क वाले मकान में रहते थे । सबरे का वक्त था । जाड़े ढल रहे थे । नीचे के कमरे में धूप की किरनें तिरछी पड़ रही थीं । मैं जल्दी निवृत्त हो चुका था और उनकी एक पांडुलिपि देख रहा था । इतने ही में प्रेमचन्द जी ऊपर से आये । पूछा—तुम नहा चुके ?

मैंने कहा—नहा चुका ।

मुझे आज देर हो गई ।—कहते-कहते वह नीचे फर्श पर बैठ गए ।

शाम को—रात तक—चर्चा चलती रही थी कि सत्य का स्वरूप कहाँ तक स्थिर मानना होगा और कहाँ तक निरन्तर परिवर्तनीय । उस थिरता और परिणामन में परस्पर क्या अपेक्षा है । लोकाचार विकासशील है या नहीं; अथवा उसकी निश्चित मर्यादा-रेखाएँ और निश्चित आधार-तत्त्व हैं । वही चर्चा किसी न किसी रूप में अब भी उठ आई । बात-बात में प्रेमचन्द जी बोले—गई जैनेन्द्र, यह किताब powerful (जबर्दस्त) है ।

कुछ दिन हुए रूसी उपन्यास 'यामा' उनके यहाँ देखा था । उसी की ओर संकेत था । मैंने तब तक वह पढ़ा न था ।

बोले—कहीं-कहीं तो जैनेन्द्र, मुझसे पढ़ा नहीं गया । दिल इतना बेकाबू हो गया । एक जगह आँसू रुकना मुश्किल हुआ ।...

देखना क्या हूँ कि जैसे वह प्रसंग अब भी उनके भीतर छिड़ गया है और उसी प्रकार आँसू रुकना किसी कदर मुश्किल हो रहा है ।

बोले—उस जगह मुझसे आगे पढ़ा ही न गया, जैनेन्द्र, किताब हाथ से छूट गई । और पुस्तक के उस प्रसंग का वह अनायास ही वर्णन करने लगे ।

मैं सुनता रहा ।

धूप कमरे में तिरछी आ रही थी । उनके चेहरे पर सीधी तो नहीं पड़ रही थी फिर भी वह चेहरा सामने पड़ता था और उजला दीखता था । मैं कानों से सुनने से अधिक उस कथा को आँखों से देख रहा था । प्रसंग बेहद मार्मिक था । प्रेमचन्द जी, मानो अवशभाव से, आपा खोए से, कहते जा रहे थे ।

सहसा देखता हूँ, वाक्य अधूरा रह गया है । बाणी काँपकर मूक हो गई है । आँख उठाकर देखा,—उनका चेहरा एकाएक मानो राख की भाँति सफेद हो आया है । क्षण-भर में सन्नाटा हो गया । मुझे जाने क्या चीज छू गई । पल-भर में मानो एक मूर्छा व्याप गई । और पल बीते-न-बीते मैंने देखा, प्रेमचन्द का सौम्य मुख एकाएक त्रिगड़ उठा है । जैसे भीतर से कोई उसे मरोड़ रहा हो । जबड़े हिल आए, मानो कोई भूचाल उन्हें हिला गया । सारा चेहरा तुड़-मरुड़कर जाने कैसा हो चला । और फिर, देखते-देखते उन आँखों से तार-तार आँसू भर उठे । उस समय चेहरा फिर शान्त हो गया था और आँसू भर-भर भर रहे थे ।

यह क्या काण्ड हो गया ! मानो प्रेमचन्द जी बहुत ही लज्जित थे । लड़खड़ाती बाणी में बोले—जैनेन्द्र...! आगे उनसे बोला न गया । मानो वह जैनेन्द्र से क्षमा माँगना चाहते थे । उनका अपने ऊपर से काबू बिल्कुल टूट चुका था । आँसू रुकना न चाहते थे । ओह, कहीं हिचकी ही न बैँध आय ।

किन्तु मिगट-दो-मिनट में वह प्रकृतिस्थ हुए । गालों और मूँछों पर से टपकते आँसुओं को उन्होंने पोंछा नहीं । एक क्षण लज्जित मुस्कान में मुस्काए । कठिनाई से बोले—मुझसे आगे नहीं पढ़ा गया, जैनेन्द्र !

यह व्यक्ति जो जाने किन-किन सुखीबतों में से हँसता हुआ निकल आया है, जो अपने ही दुःख के प्रति इतना निर्मम रहा है, वह पुस्तक के कवि-कल्पित पात्र के दुःख के प्रति इतना तादात्म्य अनुभव कर सकता है कि ऐसी अवशता से रो उठे ! मेरे लिए यह अनुभव अबूदा था । इसके प्रकाश में

मैं देख सका कि प्रेमचन्द की अन्तस्थ वृत्तियाँ कितनी सूक्ष्मस्पर्शी हैं। जो काल के दुर्द्धर्ष थपेड़ों से अचल रहेगा वही किसी की सच्ची वेदना, सच्चे त्याग पर एकाएक गलकर किस भौंति बह भी सकता है—मैंने तब जाना।

पुस्तक के उस प्रसंग की बात यहाँ न हो सकेगी। साधारणतया वह इतना बीमत्स, इतना अश्लील मालूम होता था! पर उस प्रकार की विषम स्थिति में घिरी हुई, ढँकी हुई वहाँ थी एक प्रकार की आध्यात्मिक सौन्दर्य की झलक। अन्धेरे में थी इसलिए मानो उसकी चमक और भी उज्ज्वल थी। प्रेमचन्द जी की आँख उसी पर पहुँची और मुग्ध हो गई।

मानवी भावनाओं का, परनिमित्त स्नेह का दैन्य प्रेमचन्द जी में था। जिसको कलाकार समझा और जाना जाता है, उसमें इसकी सम्भावना रहती है। कलाकार इतना आत्म-ग्रस्त हो जाता है कि औरों के प्रति उपेक्षावृत्ति धारण कर ले। प्रेमचन्द जी आत्मग्रस्त न थे। वह वक्तिक परव्यस्त थे।

प्रेमचन्द जी ने एक बड़ी दिलचस्प आप बीती सुनाई। एक निरंकुश युवक ने किस प्रकार उन्हें उगा और किस सहज भाव से वह उसकी ठगाई में आते रहे, इसका वृत्तान्त बहुत ही मनोहर है। पहले-पहल तो मुझे सुनकर अचरज हुआ कि मानव-प्रकृति के भेदों को इतनी सूक्ष्मता से जानने और दिखाने वाला व्यक्ति ऐसा अजब धोखा कैसे खा गया। लेकिन मैंने देखा कि जो उनके भीतर कोमल है, वही कमजोर है। उसको छूकर आसानी से उन्हें ऐंटा जा सकता है।

उसी उनकी रगड़ को पकड़ कर उस चालाक युवक ने प्रेमचन्द जी को ऐसा मूँडा कि कहने की बात नहीं। सीधे-सादे रहने वाले प्रेमचन्द जी के ऐसे के बल पर ऐन उन्हीं की आँखों के नीचे उस जवान ने ऐसे पेश किए कि प्रेमचन्द जी आँख खुलने पर स्वयं विश्वास न कर सकते थे। प्रेमचन्द जी से उसने अपना विवाह तक करवाया, बहू के लिए जेवर बनवाये, और प्रेमचन्द जी सीधे तौर पर सब कुछ करते गए।

कहते थे—भई जैनेन्द्र, सर्राफ़ को अभी पैसे देने बाकी हैं। उससे जो सोने की चूड़ियाँ बहू के लिए दिलाई थीं, उनका पता तो मेरी धर्मपत्नी को

भी नहीं है। अब पता देकर अपनी शामत ही बुलाना है। पर देखो न जेनेन्द्र, यह सब फ़रेब था। यह लड़का टग निकला। अब ऊपर-ही-ऊपर जो दो-एक कहानियों के रुपये पाता हूँ उससे सराफ़ का देना चुकता करता जाता हूँ। देखना, कहीं घर में न कह देना। सुप्त की आफ़त मोल लेनी होगी। बेवकूफ़ बने, तो उस बेवकूफी का दण्ड भी हमें भरना होगा।

उस चतुर युवक ने प्रेमचन्द जी की मनुष्यता को ऐसे भाँसे में पकड़ा और उसे ऐसा निचोड़ा कि और कोई होता तो उसका हृदय हमेशा के लिए हीन और कठिन और लूछा पड़ गया होता। पर प्रेमचन्द जी का हृदय इस धोखे के बाद भी मानो और धोखा खाने की क्षमता रखता था। उस हृदय में मानवता के लिए सहज विश्वास की इतनी अधिक मात्रा थी।

मन्देह नहीं कि कड़वे और तीखे अनुभव-पर-अनुभव पाते रहने के कारण स्वभाव में वह कुछ कठिन और अनुदार और शंकाशील भी हो चले थे। फिर भी मानो उनका सहज औदार्य अनायास उनके अनुभव-कठिन कलक्युलेशन पर विजय पा लेता था।

(१०)

यहाँ उनके साहित्य की विवेचना अभीष्ट नहीं है। उस साहित्य के स्रष्टा साहित्यकार को ही समझने की इच्छा है।

हरेक के लिए एक चीज़ जरूरी है—यह, असंलग्नता। काल का जो प्रवाह हमारे सामने होकर चीज़ों को बदलता-बदलता चला जा रहा है, मनुष्य उस प्रवाह का शिकार ही नहीं है, वह उसके प्रति यत्किंचित् असंलग्नता धारण करके कुछ निर्माण भी करता है, अर्थात् अपनी ओर से उस प्रवाह को कुछ दिशा प्रदान भी करता है। मनुष्य इसी शक्ति के कारण मनुष्य है। अन्यथा वह पूर्णतः पशु ही रहता।

तटस्थ होकर घटनाओं को और व्यक्तियों को और तत्त्वों को देखने की यह शक्ति प्रेमचन्द में प्रचुर मात्रा में थी। उनके विश्वास नुकीले न थे। वह दूरों पर अपना आरोप करके देखने के मोह में न थे। जो जहाँ था, उसको वहीं रहने देते थे। मानो उसको उसी की आँखों से देखना चाहते थे।

कलाकार का यही दृष्ट है। वह सबको उन्हीं के भीतर से देख सके, तां और क्या चाहिए। प्रेमचन्द जी इस दृष्ट की साधना में असावधान न थे। इसी दृष्टि का विकास अर्थात् की समस्त दृष्टि है। ‘...ब्राह्मणे गवि हस्तिनि, शुनि चैव श्वपाके च परिडताः समदर्शिनः।’

काल में रहकर भी कालातीत स्थिति में अपने को अनुभव करने की यह साधना बहुत हितकारी है। मर्त्यलोक में भी यही साधना अमरता की ओर ले जाती है। प्रेमचन्द जी के साहित्य में पाई जानेवाली विविधता; सब पात्रों के प्रति लगभग समान भाव से होने वाला न्याय; उसमें व्याप्त सहानुभूति; उस साहित्य की प्रामादिकता और मनोरंजकता—सब इसी साधना के फल हैं। इस साधना के अभाव में स्वप्न निरा स्वप्न हो जाता है; और यथार्थता के साथ उसका विरोध तीव्र-से-तीव्र होता चला जाता है। वैसी साधनाहीन कल्पना में से रोमांटिक (रंगीन) साहित्य का जन्म होता है, उसके मूल में यथार्थ की कठोरता, अभ्रियता से हटात् बचने की प्रवृत्ति है। वह दुर्बलता की द्योतक है। मैं मानता हूँ कि आधुनिक हिन्दी-साहित्य के प्रेमचन्द पहले प्रणेता हैं जो यत्नपूर्वक यथार्थता से बचने के लिए रोमांस की गली में भूलकर मौज करने नहीं गए। रोमांस को उन्होंने छोड़ ही दिया सो भी नहीं। उस अर्थ में रोमांस कभी छूटता है? कोई लेखक कल्पना को कैसे छोड़ सकता है? कल्पना बिना लेखक क्या? लेकिन अपने हृद्गत रोमांस को उन्होंने व्यवहार पर, वास्तव पर घटाकर देखा और दिखाया।

उन्होंने यथार्थ को ही आदर्श की ओर उभारने की कोशिश की। उनके साहित्य की खूबी यह नहीं है कि उनका आदर्श अंतिम है, अथवा सर्वथा स्वर्गीय है। उसकी विशेषता तो यह है कि उस आदर्श के साथ व्यवहार का असामंजस्य नहीं है। वह आदर्श स्वयं में कम ऊँचा है तो इस लिए भी कम ऊँचा है कि वह नीचे वालों को ऊपर उठाकर उनके साथ-साथ रहना चाहता है। इस समन्वय की पुष्टता के कारण वह पुष्ट है।

एक बात और याद रखने की है। प्रेमचन्द जब साहित्य में आये तो वह साहित्य, सर्वथा नहीं तो अधिकांश रूप में अवश्य, व्यक्ति के लिए एक

शाला था, मनोविनोद का एक साधन और व्यवसाय था। प्रेमचन्द जी आरम्भ में उसके प्रति इसी नाते की धारणा पर साहित्य में प्रविष्ट हुए, शनैः शनैः ही साहित्य के प्रति उनके मनोभाव उत्तरोत्तर गम्भीर और पवित्र होते गए। अपने साथ-साथ वे हिन्दी पाठकों को भी उस प्रकार की मनोवृत्ति में उठाते चले गए। हमको यह याद रखना चाहिए कि 'चन्द्रकान्ता-संतति' या 'नरेन्द्रमोहिनी' के पाठक से उन्होंने आरम्भ किया था। उस पाठक के भरोसे वह लेखक बने, और उन्हें लेखक बने रहना था। पाठक वही था लेकिन उसे 'भूतनाथ' से 'गोदान' तक ले चलना था। प्रेमचन्द के इस ऐतिहासिक दायित्व को भूलने से न चलेगा। महावीर प्रसाद जी द्विवेदी को विवेचक पाठक से काम पड़ा। वह काम इतना गुरु-गम्भीर न था। उसमें विवाद से और तर्क से और योग्यता से काम चल सकता था। अधिक-से-अधिक वह इस या उस तर्क-धारा, विचार-धारा को मोड़ने का काम था। पर प्रेमचन्द के जिम्मे तो समूचे व्यक्तित्व को, समूचे हिन्दी-वर्ग को, एक तल से उठाकर दूसरे संस्कारी तल तक ले चलने का काम आया। वह काम समूचे व्यक्तित्व, समूची आत्मा को मोंगता था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने हिन्दी को एक विशेष tradition (परम्परा) प्रदान की। उसे रुढ़ शिथिलता से उबारकर भारतेन्दु ने हिन्दी को हवा लगाने दी। पर उन traditions की अपर्याप्तता, अनुपयुक्तता इधर-उधर प्रकट हो चली थी। भारतेन्दु के साहित्य में जीवन मानो नाटकीय रंगस्थली है। पर बीसवीं सदी का विज्ञान और वितर्क-संकुल जीवन उससे अधिक जटिल चीज हो चली। हिन्दी को उस भारतेन्दु की साहित्य-परम्परा से आगे बढ़कर इस जीवन-जटिलता का और उसके वैविध्य-वैपम्य का आकलन करने के लिए समर्थ होना था। यह काम परम्परा को तोड़ने से नहीं होता। परम्परा टूटती नहीं है, टूट सकती ही नहीं है। उनको पचाकर आगे बढ़ा जाता है; उन्हीं को विस्तृत किया जाता है, उभारा जाता है। यह काम आलोचना-विलोचना के बस का नहीं है। यह काम स्रष्टा का है, उसके लिए है। साहित्यिक परम्पराओं का निर्माण और संस्कार इतना अधिक विधायक कर्म है कि ध्वंसेच्छा अथवा सुधारग्रह उसके

लिए तो असंगत वृत्तियाँ हैं; उसके लिए तो अपने सम्पूर्ण जीवन का निवेदन ही चाहिए। इस युग में प्रेमचन्द जी के ऊपर यह दायित्व पड़ा और उन्होंने निवाहा, ऐसा मेरा विश्वास है। मनोविनोद से उठते-उठते हम साहित्य के प्रति एक मिशन-भाव, एक पूजा-भाव तक आ गए हैं और प्रेमचन्द जी ने हिन्दी पाठक-लेखक के इस मानसिक विकास में महत्वपूर्ण योग दिया है।

उनकी रचनाओं को निर्माणकाल के अनुक्रम से देखने पर स्पष्टता से पता चलता है कि वह आगे बढ़ते हुए समय का साथ देने में अपने को लॉचने से भी नहीं चूके। कहीं वह राह में टहर नहीं गए, साथ देते ही गए। जो उनकी पहली कहानियाँ और पहले उपन्यास हैं, वह पिछली कहानियाँ और पिछले उपन्यास नहीं हैं—इसका कारण यही है कि वह प्रगति से पिछड़ने को तैयार न थे। जब कहानियों में मनोविज्ञान की धुन सवार हुई तब वह उस नई मॉग और नए क्रैशन के प्रति अवश्याशील नहीं हुए। जब और जिस तरह की नई जिज्ञासा, नई मॉग पाठक में जगी तब प्रेमचन्द भी उसके प्रति जागरूक और उत्तर में तत्पर दीखे। युग के प्रतिनिधि लेखक के यही लक्षण हैं। वह निरन्तर वर्द्धमान, निरन्तर परिणामनशील है। उन्होंने पाठक को पिछड़ने नहीं दिया, उसको घेरे ही रखा। इसमें पाठक असन्तुष्ट भी हुआ तो हो, प्रेमचन्द जी उसके हित को अपने मन से भुलाने वाले न थे। यही कारण है कि 'सेवासदन' की सुसम्पूर्णता और सुसम्बद्धता (Complete causal wholeness) 'गोदान' में नहीं है। गोदान चित्र की भाँति असमाप्त और काल-प्रवाह के समान थोड़ा-बहुत अनिर्दिष्ट है। पिछली रचनाएँ पहले की भाँति नैतिक उद्देश्य के ढँकने से ढँकी सुरक्षित और बन्द नहीं हैं, मानो कहीं अनढँकी और खुली रह गई हैं—इसका कारण यही है। पाठक आदेश नहीं चाहता निर्देश नहीं चाहता, विस्तृति और जाग्रति केवल चाहता है तो प्रेमचन्द जी भी पिछली रचनाओं में निर्देश नहीं देंगे, उन्मुक्त विस्तार देंगे।

Subjective (आत्मापेक्षी) दृष्टि से प्रेमचन्द जी अपनी साहित्य-सृष्टि

मैं निरन्तर गतिमान और प्रगतिशील रहे हूँ। अपने भीतर जीवन का प्रवाह उन्होंने रुकने नहीं दिया। Objective (पदार्थपेक्षी) दृष्टि से मैं उनके साहित्य पर विचार भी करना नहीं चाहता हूँ। इस लिहाज से किसी को कोई रचना अच्छी लग सकती है और दूसरा किसी दूसरी रचना पर अटक सकता है। लेकिन उस माप से प्रेमचन्द के साहित्य का विमाजन उपयोगिता-पूर्वक किया जायगा, सही; पर उस भाँति उस प्रेमचन्द के तत्त्व को पहुँचना दुष्कर होगा जो उस समूचे साहित्य को एकता की सम्भावना देता है और जो उस सृष्टि का मूल है।

(११)

प्रेमचन्द जी भौतिकतावादी नहीं, बुद्धिवादी थे। उनका आधार विवेक, अर्थात् विभेदविज्ञान था। फिर भी आज के युग की पच्छिमी प्रवृत्ति से उनको आशंका थी। उनके जीवन में, उनके साहित्य में उस आशंका के लक्षण अति प्रगट हैं, और उसके प्रति खुली चेतावनी और खुली चुनौती है। उसमें घोषित है कि वाण्य शक्ति में नहीं, सेवा में है। महिमा उद्वेग विभूति में नहीं, शान्त समर्पण में है। सिद्धि सुख पर ईर्ष्या करने में नहीं, वेदना के साथ सहानुभूति करने में है। Social polity का समाधान शहर में नहीं, गाँव में है। बहुत-कुछ चारों ओर बटोर कर संग्रह करने से जीवन का स्वास्थ्य बढेगा नहीं, घटेगा; उपयोगिता भी बढेगी नहीं, घटेगी; और आन्तरिक आनन्द तो इस भाँति घिर कर, घुटकर पीला और निष्प्राण हो ही जायगा।

(१२)

मुझे एक अफ़सोस है। वह अफ़सोस यह है कि मैं उन्हें पूरे अर्थों में शहीद क्यों नहीं कह पाता हूँ। मरते सभी हैं। यहाँ बचना किसको है। आगे-पीछे सबको जाना है। पर मौत शहीद की ही सार्थक है, क्योंकि वह जीवन के त्रिजय को घोषित करती है। आज यही ग्लानि मन में घुट-घुटकर रह जाती है कि प्रेमचन्द शहादत से क्यों वंचित रह गए। मैं मानता हूँ कि प्रेमचन्द शहीद होने योग्य थे। उन्हें शहीद ही बनना था।

और यदि नहीं बन पाए हैं वह शहीद, तो मेरा मन तो इसका ढोप हिन्दी संसार को भी देता है ।

मरने से एक सवा महीने पहले की बात है । प्रेमचन्द खाट पर पड़े थे । रोग बढ़ गया था, उठ-चल न सकते थे । देह पीली, पेट बड़ा था, पर चेहरे पर शान्ति थी ।

मैं तब उनकी खाट के बराबर काफी-काफी देर बैठा रहा हूँ । उनके मन के भीतर कोई खीझ, कोई कड़वाहट, कोई मैल उस समय करकराता मैंने नहीं देखा । देखते तो उस समय वह अपने समस्त अतीत जीवन पर पीछे की ओर भी होंगे, और आगे अज्ञात में कुछ तो कल्पना बढ़ाकर देखते ही होंगे । लेकिन दोनों को देखते हुए वह सम्पूर्ण शान्त भाव से खाट पर चुपचाप पड़े थे । शारीरिक व्यथा थी, पर मन निर्विकार था ।

ऐसी अवस्था में भी (वलिक, ही) उन्होंने कहा—जेनेन्द्र, लोग ऐसे समय याद किया करते हैं, ईश्वर । मुझे भी याद दिलाई जाती है । पर अभी तक मुझे ईश्वर को कष्ट देने की जरूरत नहीं मालूम हुई है ।

शब्द हँले-हँले, थिरता से कहे गए थे और मैं इस अत्यन्त शान्त नास्तिक सन्त की शक्ति पर विस्मित था ।

मौत से पहली रात को मैं उनकी खटिया के बराबर बैठा था । संधेरे सात बजे उन्हें इस दुनिया पर आँख मीच लेनी थी । उसी संधेरे तीन बजे मुझसे बातें होती थीं । चारों ओर सन्नाटा था । कमरा छोटा और अँधेरा था । सब सोये पड़े थे । शब्द उनके मुँह से फुसफुसाहट में निकलकर खो जाते थे । उन्हें कान से अधिक मन से सुनना पड़ा था ।

तभी उन्होंने अपना दाहिना हाथ मेरे सामने कर दिया । बोले—दाब दो ।

हाथ पीला क्या सफेद था और फूला हुआ था । मैं दाबने लगा ।

वह बोले नहीं, आँख मीचे पड़े रहे । रात के बारह बजे 'हंस' की बात होकर चुकी थी । अपनी आशाएँ, अपनी अभिलाषाएँ, कुछ शब्दों से और अधिक आँखों से वह उस समय मुझ पर प्रगट कर चुके थे । 'हंस' की

और साहित्य की चिन्ता उन्हें तब भी दबाए थी। अपने बच्चों का भविष्य भी उनकी चेतना पर दबाव डाले हुए था। मुझमें उन्हें कुछ डारस था।

अब तीन बजे उनके फूले हाथ को अपने हाथ में लिए मैं सोच रहा था कि क्या सुझपर उनका डारस ठीक है ? रात के बारह बजे मैंने उनसे कुछ तर्क करने की धृष्टता भी की थी। वह चुभन मुझे चुभ रही थी। मैं क्या कहूँ ? क्या करूँ ?

इतने में प्रेमचन्दजी बोले—जैनेन्द्र !

बोलकर, चुप, मुझे देखते रहे। मैंने उनके हाथ को अपने दोनों हाथों से दबाया। उनको देखते हुए कहा—आप कुछ फिकर न कीजिए, बाबूजी। आप अब अच्छे हुए। और काम के लिए हम सब लोग हैं ही।

वह मुझे देखते रहे, देखते रहे। फिर बोले—आदर्श से काम नहीं चलेगा—

मैंने कहना चाहा—आदर्श.....

बोले—वहस न करो—कहकर करवट लेकर आँखें मींच लीं।

उस समय मेरे मन पर व्यथा का पत्थर ही मानो रख गया। प्रकार-प्रकार की चिन्ता-दुश्चिन्ता उस समय प्रेमचन्द जी के प्राणों पर बोझ डाल कर बैठी हुई थी। मैं या कोई उसको उस समय किसी तरह नहीं बटा सकता था। चिन्ता का फेन्द्र यही था कि 'हंस' कैसे चलेगा। नहीं चलेगा तो क्या होगा। 'हंस' के लिए तब भी जीने की आस उनके मन में भी और 'हंस' न जियेगा यह कल्पना उन्हें असह्य थी। पर हिन्दी-संसार का अनुभव उन्हें आश्चस्त न करता था। 'हंस' के लिए जाने उस समय वह कितना न झुक-गिरने को तैयार थे।

मुझे योग्य जान पड़ा था कि कहूँ कि—'हंस' मरेगा नहीं। लेकिन वह बिना झुके भी क्यों न जाए ! वह आपका अखबार है, तब वह बिना झुके ही जियेगा।

लेकिन मैं कुछ भी न कह सका और कोई आश्वासन उस साहित्य-सम्राट् को आश्चस्त न कर सका।

थोड़ी देर में बोले—गर्मी बहुत है, पंखा करो ।
 मैं पंखा करने लगा । उन्हें नांद न आती थी, तकलीफ़ बेहद थी । पर
 कराहते न थे, चुपचाप आँख खोलकर पड़े थे ।
 दस-पन्द्रह मिनट बाद बोले—जैनेन्द्र, जाओ सोओ ।
 क्या पता था अब शेष घड़ियाँ गिनती की हैं । मैं जा सोया ।
 और सबेरा होते-होते ऐसी मूर्च्छा उन्हें आई कि फिर उससे जगना
 न हुआ ।

×

×

×

×

हिन्दी संसार उन्हें तब आश्वस्त कर सकता था, और तब नहीं तो अब
 भी आश्वस्त कर सकता है । मुझे प्रतीत होता है, प्रेमचन्द जी का इतना
 अग्रण है कि हिन्दी संसार सोचे—कैसे वह आश्वासन उस स्वर्गीय आत्मा तक
 पहुँचाया जावे ।

[दो]

प्रेमचन्द को गये अब पन्द्रह वर्ष होते हैं, लेकिन मन को यह समझाना
 मुश्किल है कि वह अब स्वर्ग के हैं, हमारे समाज और जमाने के नहीं हैं ।
 सच तो यह है कि उन्हें उठाकर काल ने गलती ही की है । न उनकी उम्र
 इतनी थी, न किसी तरह वह समय से पीछे थे । थे तो एक कदम आगे थे,
 और मौजूदा हालातों में शायद वह आज पहिले से भी ज्यादा सही और
 जरूरी साबित होते ।

मेरी पहली मुलाकात उनसे सन् '२६ में हुई । जाड़ों के दिन थे, कुम्भ
 का मेला पूरा हुआ ही था, बनारस से गाड़ी लखनऊ स्टेशन पर कोई चार
 बजे आ लगी थी । तड़का फूटते-फूटते मैं उनके लाल मकान पर जा पहुँचा,

लेगिन यह पहुँचना आसान न हुआ । सोचता था कि नामवर आदमी हैं । लाल मकान का पता अपने पास है ही । एक बच्चा तक जगह बता देगा । पर बात उतनी सीधी न निकली । एक डेढ़ घण्टा मुझे लगा अमीनाबाद के पास के उस लाल मकान को पाने में और मालूम हुआ कि आत्मा की और हृदय की और दिमाग की ऊँचाई और दुनियादारी की बढ़ाई एक चीज नहीं है । शायद दोनों समानान्तर हैं ।

मकान के जीने के नीचे से आवाज देने पर जब ऊपर प्रेमचन्द प्रकट हुए तो सहसा मन को धक्का लगा । वह रूप देवोपम मालूम हुआ, और मैं कुछ वैसी ही आस बाँधे था, आगे-आगे वालों से माथा टका हुआ, पानी बड़ी मूँछें, करीब घुटनों तक बँधी घोती, कंधों पर लाल किनारी की घिसी-पिटी चादर, कुल मिलाकर जो दृश्य आँखों के सामने पड़ा वह निश्चय ही मनोहारी न था । लेकिन देखते-देखते वह व्यक्ति लपककर जीने से नीचे आया, फौरन मेरे हाथ से सामान की छोटी-मोटी चीज छीनी, और मुझे इस तरह ऊपर ले चला कि मैं समझ ही न सका, कि मैं यहाँ अजनबी हूँ या क्या । ऊपर दालान में एक तरफ मिट्टी का ढेर था, पानी की एक मोटी लकीर कर्ण बनाती हुई इस कोने से उस कोने को मिला रही थी । सहन के बराबर वाले कमरे में, जिसमें हम टाखिल हुए और बैठे किताबें, कापियाँ, मेज-मूँछों पर बे-तरतीब खड़ी और पड़ी थीं और स्याही के धब्बे भी वहाँ होने के लिए हर प्रकार स्वतन्त्र थे । किताबों को भट इधर-उधर सरकाकर मेरे लिए मूँछे पर जगह हुई, और हम लोग गप करने बैठ गए । ऐसे कि जैसे कला के दोस्त हैं । मैं कच्ची उम्र का अनाड़ी लड़का, वह एक १. पहुँचे हुए बुजुर्ग । साहित्य के वह सम्राट्, उसीके तट पर आकर किम्बक के साथ भाँकने वाला उत्सुक मैं । पर प्रेमचन्द की सहृदयता में कालपन का यह फर्क कोई अन्तर नहीं डाल सका । मैं तक अपनी हीनता भूल गया, और असम्भव नहीं कि चर्चा में उस समय कुछ अनधिकृत बात तक मैं कह गया होऊँ ।

कब नौ बज गए पता न चला । आखिर अन्दर से आवाज आई कि

दिन इतना चढ़ गया, दवा नहीं लाकर दी जायगी। तब वह दुनिया की तरफ जागे और जल्दी से पैरों में स्लीपर डाल, तफ़िए से शीशी खींच, नुस्खा-तलाश दवा लेने दौड़े। कहा, तुम इतने में हाथ-मुँह धोओ, मैं अभी आया।

प्रेमचन्द का रूप यह था और सब जगह, सब समय शायद यही रहता था। दुनिया में कुछ कृत्रिमता भी चाहिए, ज्यादा खुले और हार्दिक रहने का यहाँ कायदा नहीं है। जान पड़ता है, प्रेमचन्द को दुनिया के इस जरूरी कायदे का खयाल नहीं था और दिमागी तौर पर अगर था भी तो अमल में वह उसे साथ नहीं रख पाते थे।

खा पीकर बोले, चलो जैनेन्द्र दफ़्तर चलें। मकान से उतर कर मैंने देखा कि हजरत ने अमीनाबाद से तांगा नहीं लिया, इक्का किया। मैं एक अच्छे से तांगे को देखकर बातचीत करना चाहता था, पर वह बोले—नहीं, इक्के से चलेंगे। तांगा हमें खींचता है, इक्के पर हम सवार होते हैं। कोई बात हुई कि मुँह हमारा इधर है और खिंच हम पीठ की तरफ रहे हैं। अपनी चीज तो इक्का है, कहकर कहकहा लगाया, और एक इक्के वाले को इस तरह सम्बोधन किया, मानो वह इनका कोई जिगरी दोस्त है। दफ़्तर में पहुँचकर और बैठकर भी कोई दफ़्तरीपन उन पर मैंने चढ़ा नहीं देखा, काम भी हो सकता था और हँसी-ठट्ठा भी हो सकता था।

उस वक्त तो केवल एक ही दिन मैं ठहर सका। और उसी रात वहाँ से चला आया। लेकिन उन चन्द घन्टों ने हमेशा के लिए मुझे प्रेमचन्द का बना दिया। तब 'हंस' निकालने का खयाल चल रहा था, ईश्वरीप्रसाद उसके लिए नित्र तैयार करके लाये थे, और उसी दिन टाल्सटॉय के ग्रन्थों का अनुवाद लेकर स्रद्धा नारायण वहाँ आए थे। दोनों के प्रति उनका व्यवहार देखकर मुझे अचम्भा हुआ मानो कि प्रेमचन्द दूसरे के प्रति अपने बर्तन में अपनी खुदी को बाद दे देते थे। याद पड़ता है, इस पहलू ही मौके पर मैं उनसे कुछ बैठा कि अखबार की नौकरी मैं पढ़ने की ऐसी क्या मजबूरी उन्हें थी? छोड़िए, छुट्टी लीजिए। आप की कलम क्या आपके लिए सबकुछ नहीं हो सकती? इस सवाल पर वह ताज्जुब से मेरी तरफ देखने लगे, समझ

गये कि मैं अनुभव से कोरा हूँ, पर नाराज नहीं हुए, जिन्दगी की अपनी लम्बी दास्तान ले बैठे; बताया कि कैसे एक नौकरी से दूसरी नौकरी में गए, इस मुदरिमी मे वह मास्टरी की। आखिर प्रेस खोला, प्रेस से तंग आकर उममें ताला डाला, घर बैठे। बोले, सुनो एक जगह से पाँच सौ रुपये आने वाले थे, पर दिन इन्तजार दिखाए जाते थे, आखिर एक दिन ढाई सौ रुपये पहुँच ही गए। सब नोट ज्यों-के-त्यों मैंने श्रीमती के हाथ में दिए।

उन्होंने पूछा, कितने हैं ? मैंने कहा, ढाई सौ।

भल्लाकर बोलीं, ढाई सौ, और जोर से हाथ को भटककर उन्होंने सारे नोट ढालान में फेंक दिये, और मुझे उस वक्त वह सुननी पड़ी कि क्या बताऊँ। तंगी में दिन गुजर रहे थे, सो तो था ही, लेकिन तब आस तो लगी थी, पाँच सौ की रकम पर। उसको जगह जो आये ढाई सौ तो पत्नी का धीरज छूट गया। पब्लिशर को तो क्या सब कुछ मुझको सुनना पड़ा, उसके बाद जो इस जगह का आफर मिला तो मैंने भट कबूल कर लिया, बताया तुम क्या नहीं करते ? अब रोज-रोज का तो रोना नहीं है।

दिल्ली लौटने के बाद फिर खतो-किताबत का सिलसिला शुरू हो गया। दूसरी मर्तबा मिलना हुआ तो कुछ बड़ी मजेदार बातें हुई। उस समय उन्होंने मकान बदल लिया था। एक दूसरे मित्र भी तब लखनऊ में रहते थे। उनसे बात हुई कि चलो प्रेमचन्द के यहाँ चलें। नौकर को हुकम हुआ कि सवारी लाये। उसने इक्का लाकर खड़ा किया। मित्र ने डाँटकर कहा कि बदशकर, देख के सवारी ला ! दुबारा अच्छा समझकर एक तांगा ले आया। मित्र की रुचि के लायक वह भी न निकला। आखिर एक फैन्सी रईसी बग्वी लाई गई। मित्र ने रेशमी शेरवानी पहनी, उसकी जोड़ का सुस्त पाजामा, बड़िया पालिश की शू और सफेद भकभकती टोपी बाँकी करके लगाई, पहुँचे प्रेमचन्द के यहाँ। वहाँ दरवाजे के पास आते हैं तो देखते क्या हैं कि बगल से उसी वक्त तेज चाल से चले आ रहे हैं प्रेमचन्द, बगल में छड़ी है, दूसरे हाथ में भोला, भोले में से ताजा साग-सब्जी भाँक रही हैं। बदन पर खाली एक कुर्ता, धोती उसी नमूने की जैन्सी बैची हुई। साफ था कि

कदमों से लम्बी राह नापते आ रहे हैं। उस दृश्य के ये दो विरोधी नमूने भूलते नहीं हैं।

उसी कयाम में मैंने पूछा, ये बताइये कि आपको कभी अपघात की भी सूझी है या सूझती है ?

बोले, कई बार, और एक तो अभी कुछ महीने की बात है। फिर आपने अपने जीवन का एक किस्सा सुनाया। सवेरे कुछ कहा-सुनी हुई, और तय किया कि आज मर जाना होगा। दिन-भर घूमते रहे कि आज किसी तरह घर वापिस लौटना नहीं है, मर के छोड़ना है। मगर यों नहीं, वालंटियर जो पिकेटिंग करते हैं वहीं चुपचाप किसी जत्थे में घुसकर पुलिस की लाठी से सिर तुड़वाकर मरना ठीक होगा। दिन-भर इस कोशिश में भटकें; पर सिर कहीं टूटा ही नहीं। शाम होने के बाद तीन घंटे अकेले सन्नाटा मार एक वाग में बैठे रहे, पर मौत नहीं आई, और देखा कि ग्यारह बजे वह अपने ही कदम घर वापिस आ रहे।

प्रेमचन्द की हस्ती की सबसे बड़ी खूबी यह थी कि वह हर तरफ से साधारण थे। इस तरह वह जनता और जन के प्रतिनिधि थे। खास तो हर कोई बनना चाहता है, आम लोगों में मिलकर खुद खतम होना कोई नहीं चाहता। प्रेमचन्द की जैसे वही साधना थी, और इसके लिए मेरे जैसा आदमी उनका जितना कुतश हो, थोड़ा है।

[तीन]

प्रेमचन्द जी पहली बार दिल्ली आये, शायद सन् १९३१ में। उससे पहले इकट्ठे साथ रहने का मौका हमें नहीं आया था। लखनऊ एक-दो बार मिलना हुआ था या बनारस एक-आध रोज साथ रहे थे। अब तक

मेरी निगाह में वह लेखक थे। यहाँ जब साथ रहे तो यह ऊपरी रूप कहीं बीच में नहीं रह गया। खाना खाने साथ बैठते और बाद में भी नीम की साँक से दाँत कुरेदते हुए वे मेरे साथ ही बैठकर बात करते रहते। उस वक्त दो बुजुर्ग घर में और थे। प्रेमचन्द जी की जगह उनके साथ थी। वे ऊँचे ख्याल के लोग थे और छोटी बातें अक्सर उनके पास नहीं फटक पाती थीं। बातें देश की और दुनिया की होतीं, सुधार की और उद्धार की, या किसी नीति के या तरज के मसले की। मैं उन बातों के बीच अक्सर अज्ञानबी रहता। अव्वल तो वहाँ रहता ही न था, पास हुआ तो बहस सुनना-भर रह जाता था। प्रेमचन्द का भी मैंने यही हाल देखा। बात गहरी हो रही है और वजनदार, लेकिन प्रेमचन्द को सिर्फ सुनना है, कहने को उनके पास गोया कुछ है ही नहीं। इससे ज्यादातर वह उन बुजुर्गों में शामिल न होते और हम दो अलग-थलग बैठे गपशप किया करते। कोई अनजान उन दिनों घर पहुँचता तो किसी तरह मालूम न कर सकता था कि प्रेमचन्द कौन हैं। उनका लिवास और उठने-बैठने, रहने-सहने का तरीका इस कदर घरेलू था कि कोई उन्हें अलग से पहचान ही न सकता था। एक बुजुर्ग उनमें पुरखो ख्याल के थे। उनके पास सदा कुछ बताने और सुधारने को रहता था। हर बहस में आखिरी लाभ उनका होता। यानी सही वही है जो उनका कहना है। इस तरह तीन-चार रोज घर रहकर खासकर उन बुजुर्ग से वह बहुत कुछ इस्लाह और नसीहत पाते रहे। मुझे नहीं ख्याल कि कभी जरा उन्होंने बुरा माना हो। जैसे सोखने का वे अपना हक मानते हों और उन बुजुर्ग का हक सिखाने का।

एक रोज खाते-खाते उन्होंने पूछा—“भई ! उन साहब की उम्र क्या होगी ?”

मैंने बताया कि मेरा अंदाजा तो यह है।

बोले—“क्या कहते हो ?”

मैंने कहा—“एक-आध साल से ज्यादा का फर्क नहीं हो सकता। क्योंकि मैंने एक बार तस्दीक किया था।”

“तो बाह !” प्रेमचन्द कहकहा लगा कर हँसे—“यह खूब, तब तो यार बड़े हम हैं ।”

वह हँसी जल्दी नहीं रुकी । मैं भी उसमें शामिल हुआ ।

मैंने कहा—“इसमें आपको शक था कि बड़े आप हैं ।”

बोले—“अच्छा, अब की कहूँगा कि अजी हजरत बड़ा मैं हूँ ।”

वही हुआ । अगली मर्तवा मंडली बैठी और बहस शुरू हुई । प्रेमचन्द सुनते रहे, सुनते रहे । बहस ने लिक्चर की शक्ल अख्तियार की और आखिर सबक-आमोज नसीहतें फिंकने लगीं । प्रेमचन्द जी ने मौका देख धीमे से पूछा—“पंडित जी ! आपकी उम्र क्या होगी ?” बुजुर्ग ने अपनी उम्र बताई । प्रेमचन्द ने कहा—“बाह ! तब तो बड़ा आपसे मैं हूँ ।”

यह बात ऐसे कही गई कि बुजुर्ग को कतई नागवार नहीं हुई, बल्कि वह खुश हुए, हँस आए और उसके बाद बातचीत आपसी और घरेलू सतह पर होने लगी ।

यह चीज प्रेमचन्द की मुझे खास मालूम हुई । अपनी शक्तिशाली को वह कहीं भारी नहीं पड़ने देते थे । जैसे अपने को और अपने ख्याल को वजन के मानिंद वह अपने साथ नहीं रखा करते थे । हल्के रहते और कहीं घुल-मिलने को तैयार । यह बात न थी कि अदब कायदे का उन्हें अहसास न था; बल्कि बेअदबी उन्हें सख्त नापसन्द थी । पर अपने को इस कदर सिफर और नफ़ी बनाकर चलते थे कि अदब की गलती दूसरे को खुद ही महसूस होती । उन्हें उसे बताने की जरूरत न होती ।

एक बार की बात है कि वे दिल्ली आए हुए थे । सन् ३५ के दिन होंगे । हाँ, होली के करीब की बात है । यहाँ रेडियो से उन्हें दो कहानियाँ पढ़नी थीं । बनारस से वे आए थे और कोई ख़ास ख़बर रेडियो वालों को देना उन्होंने जरूरी न समझा था । यह इत्तिला उन्हें थी ही कि वे उस दिन दिल्ली पहुँच जाएँगे । रेडियो-वाले दिन-भर परेशान रहे, दौड़-धूप किया किए कि प्रेमचन्द कहाँ हैं । सचरियाँ दौड़ती रहीं कि वक्त पर प्रेमचन्द को ले आएँ । हम खरामा-खरामा घूमते हुए पैदल वक्त से कोई पाँच

सात मिनट पहले सिविल लाइन्स की उस कोठी पर पहुँचे । लोगों की जान-मैं-जान आई और सनसनी फैली । रेडियो नया था और प्रेमचन्द हिन्दुस्तान के खास आदमी थे । खासी कोशिश से रेडियो उन्हें पा सका था । आखिर हम लोग एक बड़े कमरे में ले जाए गए । दरवाजे से हमारा दाखिल होना था कि दूसरी तरफ से एक सीधे लम्बे खूबसूरत जवान तपाक से बढ़ते हुए और यत्नयत्न प्रेमचन्द को आगोश में ले लिया । बड़ी बेतकल्लुफी और गहराई से चन्द सैक्रेड बगलगीर रहे और फिर बड़ी तवाजो के साथ उन्हें ले गए ।

रेडियो स्टेशन से वापिस होते वक्त मुझ से आदिस्ता से पूछने लगे—

“क्यों जी वे बुखारी थे ?”

“हाँ ।”

“बुखारी ! पतरस !!”

“नहीं ।”

“तो फिर कौन थे ?”

मैंने कहा—“आप तो इस कदर तड़प के उनके साथ हमआगोश हुए और अब पूछते हैं !”

“मैंने समझा बुखारी होंगे । लेकिन...” कहते-कहते वे रुके । मैंने हँसकर कहा—“लेकिन क्या !”

बोले—“कोई अजब हज़रत थे देखो न, ऐसे बड़े चले आए कि मैं उनका लंगोटिया हूँ ।”

मैंने कहा—“आपने उन्हीं से पूछा क्यों नहीं ?”

बोले—“क्या कहता भले मानस से, पर जी मैं तो आया कि...”

इस तरह मौके को प्रेमचन्द हमेशा निभा लेते थे । लेकिन दिमाग उनका इस किस्म की हर गफ़लत को बारीकी से रजिस्टर करता रहता था । पर सिफ़्त यह कि उसमें फँसते न थे । मानापमान अपना नहीं मानते थे और इस तरह की घड़ियाँ उनमें कोई रंजिश या तपिश नहीं पैदा कर पाती थीं । सिर्फ़ उनकी याद के खाने में दर्ज होकर रह जाती थीं ।

द्रष्टा और भोक्ता की यह भिन्नता थोड़ी-बहुत तो सब के लिए जरूरी है। नहीं तो हम सदा शिकार बने रहें और खुद अपने तईं जी न पाएँ। हर चीज को मन में लें और उस पर कुड़ते रहें तो घायल-की-सी हमारी हालत रहेगी, और जिन्दगी हमें रस न दे पाएगी। लेकिन यह भिन्नता अक्सर काफ़ी हम में नहीं हो पाती। प्रेमचन्द में वह पर्याप्त मात्रा में थी। दिमाग़ उनका चौकन्ना रहता था और दिल भीतर सुरक्षित। सुरक्षित से मतलब निष्क्रिय नहीं। बल्कि सद्दानुभूति उनमें हर समय जगी रहती थी। पर दिमाग़ बीच में जवाब देकर भट्ट हर चीज को शिकायत के तौर पर नीचे उतार भेजे यह इजाजत वह दिमाग़ को न देते थे। इस तरह दुनिया में रहते भी उससे भी कुछ अलग-थलग रहे जाना उन्हें उतना मुश्किल न था। कहावत है—‘जल में कमल के समान।’ यह योगी के लिए कहा जाता है। योगी का तो मुझे पता नहीं पर प्रेमचन्द के साथ बहुत-कुछ मैंने घटता हुआ यह देखा है। यहाँ दिल्ली में हिन्दी के साहित्य-सम्मेलन का जल्सा हुआ। बड़े-बड़े दिग्गज आए। प्रेमचन्द भी पधारे। यह अन्होनी बात थी, पर सच यह है कि असल सम्मेलन के लिए वह आए न थे। मैंने लिखा था, इससे बात रखने को आ गए थे। खैर आ गये और जैसे ठहरा दिया गया ठहर गए। यानी पचासेक खाटों की लम्बी कतार के बीच एक उन्हें भी मयस्सर हुई। खासा रिफ़्यूजी अस्पताल का-सा दृश्य था। अब रह रहे हैं तो रह रहे हैं। कौन किसकी शकल को याद रखता है। आखिर नहाए धोए और जहाँ मालूम हुआ कि खाने-पीने का इन्तज़ाम है उधर बढ़कर गए तो वालंटियर ने कहा—“टिकट ?”

पर प्रेमचन्द के पास टिकट न था। उन्होंने पूछा—“कहाँ से मिलता है, भई टिकट ?”

“पैसे से लेना हो तो उस खिड़की से मिलता है, वैसे दफ़्तर से।”

प्रेमचन्द खिड़की से टिकट ले आए और क्यू में खड़े हो गए।

ठीक ऐसे ही बक्त मेरा उधर पहुँचना हुआ और उन पर निगाह गई। मैंने कहा—“हज़रत यह क्या ?”

बोले—“क्यू में खड़े हैं टिकट लेकर ।”

मैंने उनको बौह पकड़ कर बाहर खींचा कि जरा तो रहम कीजिए ।

वह बोले—“क्यों-क्यों ?”

गोया वह इसी लायक हैं कि अपात्र समझे जाँय और टिकटपूर्वक खाना पाएँ । इसमें कहीं तनिक भी जैसे अयुक्त बात नहीं ।

इस कथा के तीनों दृश्य जब चाहूँ मैं आँखों के सामने ले लेता हूँ और याद करता हूँ कि प्रेमचन्द क्या खूब आदमी थे !

मैथिलीशरण गुप्त

(१)

शायद तीमरी क्लास में पढ़ता था । तब मैथिलीशरण गुप्त नाम मैंने सुना था । जाने कितने कानों में होकर वह मुझ तक पहुँचा होगा । प्रसिद्धि ऐसे ही कानों-कान फैलती है । सोचता हूँ कि तब मैं क्या जानने योग्य रहा हूँगा । अक्षर पढ़ना-भर जावता हूँगा । पर जिम शाला में मैं था, उसके छोटे-बड़े, जान-अनजान, सब बालकों के सिर उन दिनों मैथिलीशरण जी और उनके पद्य ऐसे नढ़ गए थे कि हरेक यह दिखलाना चाहता था कि उसको अधिक पद्य याद हैं । मेरे कण्ठ भी तब कई पद्य बैठ गए थे । मत-लब तो उनका पूरा हम क्या समझते होंगे, फिर भी धगेहर की भाँति भँतकर उन पद्यों को हम अपनी स्मृति में रखे रहना चाहते थे । और दिटाई देखिए, अनुकरण में वैसी कुछ पद्य-रचना भी खुद किया करते थे ।

दिन बीतने के साथ वह नाम कुछ बड़ा ही होता गया । मन के भीतर वह ज्यादा जगह घेरता गया । जैसे उस नामधारी व्यक्ति को जबरदस्त आकार-प्रकार का भी होना चाहिए, नहीं तो हम नहीं मानेंगे । छुटी क्लास में था कि सातवीं में, उनके 'जयद्रथ-वध' के खण्ड पाठ्य के तौर पर पढ़े । तब ऐसा लगता था कि मैथिलीशरण जाने क्या-क्या होंगे ! बस, पुराण-पुरुषोत्तम ही होंगे और चिरगाँव कोई अनुपम गाँव होगा ।

कौन जानता था कि करिश्मा होने में आएगा । लेकिन सन् '१४ के बाद सन् '३१ भी आया और करिश्मा सचमुच होने में आ गया । लेकिन,

जो हुआ, वह करिश्मा-सा बिल्कुल नहीं मालूम हुआ। अरे, मैंने देखा कि यह तो सारी बात एकदम मामूली बात की तरह हो गई! मैथिलीशरण एकदम मामूली आदमी हैं, चिरगाँव बिल्कुल मामूली गाँव हैं। सब सर्व-साधारण है। और, मैं सोचता हूँ कि वाह!

कहना चाहिए चिरगाँव मैं यों ही जा धमका। मानिए कि 'मान न मान मेहमान' बनने की ही बात हुई। वह कौन मुझे जानते थे। बस, भाई सियारामशरण का शायद एक पत्र उससे पहले मैंने पाया था या श्री कृष्णानन्द गुप्त से, जो चिरगाँव में रहते थे, कुछ चिट्ठी-पत्री हो गई थी। उतना सहारा थामकर पूछता-पाछता मैं गुप्त-लोगों के बड़े-से अहाते में जा मौजूद हुआ। वहाँ खड़े होकर क्षण-भर सोचता रह गया कि अब क्या कहकर क्या करूँ? पाम नीम के पेड़ में पड़े हुए एक भूले में छोटी पट्टी रखे एक अर्धेड वय के महाशय, कृशकाय, नीमास्तीन मैली-सी बंडी पहने धीमे-धीमे भूल रहे थे। वह बंडी खदर क्या, टाट की थी और सच कहूँ तो बहुत सफेद नहीं थी। और धोती ऐसी कि मानो कृपापूर्वक उसे धुटने से ज़रा नीचे तक आ जाने की इजाजत मिली हो। धोती वह बस यथावश्यक ही थी और अपने नाम से अधिक काम नहीं करती थी। कपड़े का टुकड़ा ही उसे कहिए।

मैं अपनी बगल में छोटा-सा पुलिन्दा दावे उस बड़े अहाते के बीच खड़ा हुआ कुछ भूल-सा गया कि अपने साथ क्या करूँ? क्या कहूँ और क्या पूछूँ? भूले वाले तो मन-मन कुछ गुन-गुना रहे हैं और बाहर का उन्हें विशेष ध्यान नहीं है।

पर मिनिट-भर मैं सब हो गया। किसी ने मुझे सम्बोधन किया। मैंने सियाराम को पूछा, अपना नाम बताया। जिस पर भट्ट सियाराम मौजूद। कृष्णानन्द भी उपस्थित। और देखते-देखते मैं ऐसा आत्मीयता से घिर गया कि क्या कहूँ। भूले वाले निकले खुद मैथिलीशरण गुप्त। और क्षण-भर मैं वहाँ मेरे चारों ओर ऐसा घेरा बन गया कि अपने घर से ज्यादा। उस समय जैसे मुझे थोड़ी देर के लिए भी इन लोगों के प्रति अपने को अजनबी

समझने के अपराध पर कुपटा होने लगी। सचमुच मुझे बहुत शर्म मालूम हुई। न कुछ मैं मेरा पुलिन्दा छिन्न गया। जैसे मेरी गाँठ खो गई।

और मैंने सोचा कि राम-राम, मैथिलीशरण यह! यह मैथिली-शरण !!

(२)

फिर क्या एक रोज में छुट्टी मिलने वाली थी? कई रोज वहाँ रहना हुआ। मैं चाहता हूँ कि मेरी एक बात वह भी सुन लें और सब पाठक भी कान खोल कर सुन लें। वह यह कि चिरगाँव के उस घर की खातिरदारी बस आक्रांत है। अतिथि की वहाँ खैर नहीं। पर आप नीतिशैल से पूछ देखिए, कि पेट पर जुल्म नहीं होना चाहिए और स्नेह भी एक मित्रदार में ही आदमी भेज सकता है।

इसके बाद कई बार चिरगाँव जाने का मौका हुआ है। हर बार मैंने यह अनुभव किया है कि उस घर में जाकर किसी बाहर वाले में अपना परायापन या अपना अपनापन कायम नहीं रह सकता। वहाँ वैसी सुध-बुध बिसर जाती है। वातावरण में इतना स्नेह है कि जितना नहीं होना चाहिए। बीसवीं सदी के शहरों में रहने वाला आदमी ऐसे स्नेह पाने का आदी नहीं होता। उसे अविश्वास से काफी काम पड़ता है और दम्भ से भी काम पड़ता है। इससे खुले स्नेह में वह कुछ खोया-सा हो सकता है। शहराती को मालूम हो सकता है कि यह स्नेह का वर्षण कहाँ है, यह तो सीधा-सच्चा आक्रमण है। पर उस आक्रमण से वहाँ कोई बचाव नहीं है। और बचाव कहाँ से हो, आदमी निरख तो पहले हो जाता है।

चिरगाँव का वह गुप्त-लोगों का घर बहुत-सी बातों में आधुनिक नहीं है। पुरातन है, या कहो सनातन है। वह घर, यानी मैथिलीशरण एक ही बात है। घर और वह एक हैं। दोनों में प्रकृति की एकता है।

चिरगाँव गाँव बीसवीं सदी से अछूता है, सो नहीं। बल्कि इसी अहते के एक ओर एक खासा बड़ा छापाखाना है। वहाँ अंजन चलता रहता है और मशीन की खट-पट खूब सुँजती है। तरह-तरह के कल-पुरजे

इधर-उधर आपको दिखाई देंगे। नए टट्टीघर में फ्लश-सिस्टम है। इस तरह उस परिवार को चौदहवीं सदी का कोई यादगार या खण्ड नहीं कह सकते। पर निस्सन्देह गुप्त घराने के अन्तरंग में टेढ़ भारतीयता से हटकर दूसरी वस्तु अभी नहीं प्रवेश पा सकी है। परम्परा सनातन है और उस परम्परा की वहाँ अक्षुण्ण रक्षा है।

गुप्त-परिवार का पारिवारिक संगठन नए नमूने का नहीं है। वह पुरातन-शैली का है। पर इस कारण शिथिल नहीं, बल्कि सक्षम है। इतना सक्षम है कि आधुनिकता को वह झेल ही नहीं रहा है; बल्कि समीचीन भाव में उसे गति भी दे रहा है। [मैथिलीशरण और सियारामशरण की कविता को हम पुरानी कहकर साहित्य से नहीं टाल सकेंगे। असहमति जुदा बात है। पर जाग उनमें भरपूर है, आँखें उनमें मूँदकर नहीं रखी गई हैं।] परिवार वह सम्मिलित ही नहीं, एक है। उसकी जीवन-शक्ति अभिभक्त है। और मैथिलीशरण मानों उसके प्राण-केन्द्र हैं।

स्वर्गीय प्रेमचन्द के साथ की एक बात मुझे याद आती है। मैंने पूछा कि मैथिलीशरणजी से तो आपको खुली घनिष्ठता है न ?

बोले कि सो तो नहीं। हाँ, कुछ दिन लखनऊ में साथ रहना हुआ था। लेकिन यही राह-रास्ती की यह दुआ-सलाम है। आगे कुछ नहीं।

मैंने कहा कि यह तो हिन्दी का सौभाग्य नहीं है। नहीं-नहीं, आप दोनों को निकट आना होगा। निकट लाया जाया जायगा। बोलिए, कभी चिरगाँव चलेंगे ?

लैर, उसी बात के सिलसिले में प्रेमचन्दजी ने कहा कि जैनेन्द्र, मुझे एक बड़ा अचरज है। मैथिलीशरण और सियारामशरण दोनों भाइयों को देखकर मैं हैरत में रह जाता हूँ। लक्ष्मण भी क्या रामचन्द्र के प्रति ऐसे होंगे ? जैनेन्द्र, दो भाई ऐसे अभिन्न कैसे हो सकते हैं ? मेरी तो समझ में नहीं आता। कहीं मैंने उनमें भेद नहीं देखा। या तो फिर दोनों में से किसी एक में कुछ कमी है, दम नहीं है, जान नहीं है। या नहीं तो फिर क्या कहूँ।

मैंने कहा कि दो सगे भाई भगड़ें, क्या यह आप स्वाभाविक मानेंगे।

बोले कि और नहीं तो क्या। दस्तूर तो यही है। भाई सगे तो छुट-पन के होते हैं। बड़े होकर वे आपस में भाई-भाई तक भी क्यों रहे? लड़ने में उन्हें कौन रोकता है? मैं तो देखता हूँ कि मगे भाई अधिकतर दुश्मन बनकर ही रहते हैं, स्पद्धा से वे बच नहीं सकते।

मैंने कहा कि दुनिया को तो मैं क्या जानूँ; लेकिन मियाराम और मैथिलीशरण में क्या, बल्कि सभी भाइयों में मचमुच जरा भी भेद नहीं है। मैं तो चिरगाँव कई बार हो आया हूँ।

प्रेमचन्दजी बोले कि यही तो! प्रेमचन्दजी इस अपने विस्मय को कभी नहीं जीत सके। वह मानो उनके भीतर हल ही नहीं होता था। पर उधर जब यह बात मैंने गुप्त-भाइयों को सुनाई तो उन्हें प्रेमचन्दजी के विस्मय पर बड़ा विस्मय हुआ। दो भाइयों के बीच कुछ अन्यथा सम्बन्ध सम्भव भी हो सकता है, मानों यही उनके लिए अकल्पनीय था।

तो, यह अन्तर है। शहरी के लिए अविश्वास स्वाभाविक है और परिवार का विभक्त होते जाना स्वाभाविक है। यहाँ तक कि पति-पत्नी में भी पृथक् अधिकार की भावना हो आए।

पर यह शहरियत विशेषता से मैथिलीशरणजी के प्रयत्न से उनके परिवार को नहीं छू सकी है। मैथिलीशरणजी में इसकी छूत नहीं है।

इससे वह अपने व्यवहार में हार्दिक हैं। ऊपरी लिहाज में चूक सकते हैं। अदब के नियमों में भूल कर सकते हैं, पर अपनी भूल में भी वह हार्दिक हैं और प्रेम को नहीं भूल सकते। हृदय को पीछे रोककर चलना उन्हें कम आता है।

मैं मानता हूँ कि पारिवारिक अर्थान् पारिपार्श्विक वातावरण की इस सुविधा के कारण उनका काव्य संचर्प-जनित पीड़ा से इतना अछूता रह सका है। उसमें वेदना का उभार नहीं है, जैसी कि सुरक्षित व्यवस्था है। वह दुर्दमनीय नहीं, मर्यादाशील है।

(३)

‘नाम बड़े, दर्शन थोड़े’ । उनकी पहली छाप मुझ पर वह पड़ी । गुरु में चाहें यह अनुभव मुझे कैसा भी लगा हो, पर पीछे ज्यों-ज्यों मैं जानता गया हूँ, मालूम हुआ कि दर्शन को थोड़ा रखकर ही उन्होंने अपना नाम बड़ा कर पाया है । अपने चारों ओर दर्शनीयता उन्होंने नहीं बटोरी । बल्कि कहो कि वह उससे उल्टे चले हैं । रूप उन्होंने आकर्षक नहीं पाया, इतने से ही मानो मैथिलीशरण सन्तुष्ट नहीं हैं । अपनी ओर से भी वह किसी तरह उसे आकर्षक न बनने दें, मानो इसका भी उन्हें ध्यान रहता है । लिबास मोटा, देहाती और कुढ़ंगा । सज्जा यदि हों, तो तदनुकूल और आधुनिक फैन्सी के प्रतिकूल । सिर पर बुन्देलखण्डी पगड़ी, घुटने तक गया कुरता और लगभग घुटने तक ही रहने वाली धोती । बाल इतने छोटे कि उन्हें चाहकर भी सँवारा न जा सके । शरीर कृश और श्यामल । मूँछें बेरोक उगती हुई, जिसमें कोई छँटाव नहीं । मानो दीखने वाले अपने समूचेपन से मैथिलीशरण घोषित करना चाहते हों कि मैं किसी सम्भ्रम के योग्य प्राणी नहीं हूँ । उत्सुकता का, या शोभा का, या समादर का पात्र कोई और होगा । मैं साधारण-में-साधारण हूँ । देखो न, मैं ऐसा तो हूँ कि जिसे जरा ऊपरी ढंग भी नहीं आता ।

फिर भी सच यह है कि उनके ढंग में भी एक अपनी आन है । एक निजत्व है । और इधर की उनकी बड़ी मूँछों के साथ वाली छोटी दाढ़ी के फोटोग्राफ देखता हूँ तो रौब पड़े बिना मुझ पर नहीं रहता । कबूल करना चाहिए कि आमने-सामने होकर वह रौब मुझे अनुभव नहीं होता । क्योंकि वह मिलते ही ऐसे खुले अपनावे के साथ हैं कि रौब बिचारा क्या करे ।

खैर, मालूम होता है कि अपने बारे में वह न गलत फ़हमी खुद चाहते हैं, न औरों में चाहते हैं । जो हैं, सो हैं । न अधिक मानते हैं, न अधिक दीखते हैं । और जो हैं, उससे कम कोई मानना चाहे तो उसे भी छुट्टी है । लेकिन सच यह है कि कम माना जाना भी उन्हें पसन्द नहीं है । इज्जत में व्यतिरेक नहीं आ सकता । कुल के और अन्य प्रकार के गौरव की

केक उनमें है। उस मामले में वह दुर्बल भी हैं, हठीले भी हैं।

प्रतीत होता है कि दुनिया में इस यथार्थ की स्वीकृति द्वारा वह अपनी महत्ता बना सके हैं। निपेथ अथवा चुनौती मूलक उनका महत्त्व नहीं है। किन्हीं नये मूल्यों की प्रतिष्ठा उनके जीवन में नहीं है, मान्य की ही मान्यता है।

(४)

गम्भीर्य ? नहीं भाई, वह मैंने नहीं पाया। और अपनी जानें। मैं तो अपनी कहूँ। गम्भीरता की मैंने कमी पाई। कमी भी सोच-समझकर कह रहा हूँ। किती के बुरा मानने का डर न हो तो शायद कहूँ कि अभाव पाया। और कुछ मैथिलीशरण आवश्यकता से अधिक हों, गम्भीर आशा से कम हैं। शायद आवश्यकता से भी कम हैं। मैं अनुमान कुछ करता था, निकला कुछ। विद्वान् को गम्भीर होना चाहिए। पर मैथिलीशरण जी के ऊपर विद्वत्ता ढंग के साथ टिकती मैंने नहीं देखी। बीच में चपलता भाँक ही उठती है। कमी तो डर होता है कि क्या वह सचसुच पचास से ऊपर के हैं भी ? मालूम होता है कि जो भी हों; पर अब भी बचपन है। जिससे बुढ़ापे की आशा हो, उसकी जवानी हमें बचपन न लगेगी, तो क्या लगेगी ? धीमे नहीं चलते, तेज चलते हैं। कहीं पचास से ऊपर उम्र वालों का भाग-कूद के खेलों का भारतीय दूरनामेष्ट हो जाय, तो मैथिलीशरण का नम्बर शर्तिया पछड़ा नहीं रह सकता। जहाँ मैं सोचता रह गया हूँ, वे कर सुजरे हैं। सड़क पर हम कई जन जा रहे हैं, एक बन्चा किसी का चपेट में आकर रास्ते की धूल में गिर पड़ा, तो आप में से पहले वह होंगे जो उसे उठा-एँगे। सुभ-भूभ उनमें जगी रहती है। परिस्थिति से वे दबते नहीं हैं। मानो परिस्थिति के प्रति दबंग रहते हैं। आधुनिक सूट-बूट वाले समाज में भी अगर उनका पहुँचना हो जाय, तो अपने देहाती बाने को लेकर वहाँ भी वे मन्द नहीं दीखेंगे। टी-पार्टी होगी तो न चाय पीएँगे, न शायद कुछ खाएँगे। कदाचित् फल भी न छूएँगे। पर उस पार्टी में अपने परहेज के कारण असमंजस में किसी को न पड़ने देंगे। मिलेंगे, बोलेंगे, हँसेंगे और

अपनी चाल-दाल की असाधारणता पर या कि परहेज पर मानो किमी का भी ध्यान तनिक न सकने देंगे। गलती वह बड़े सहज भाव से कर सकते हैं; पर कुण्ठित व्यग्रता या असमंजस द्वारा अपनी गलती को डबल गलती बनाने की गलती वह कभी नहीं करते। मानो स्पष्ट व्यवहार से वह स्पष्ट व्यक्त रखते हैं कि (आपके) समाज का अदब कायदा कुछ है, तो वह जरूर है। पर मैं जितना जानता हूँ, उतना ही जानता हूँ। अधिक नहीं जानता, इसकी लज्जा से अपनी उपस्थिति में मैं किसी को लज्जित नहीं होने दूँगा। आपकी उदारता के सम्मान में अपनी ही त्रुटि पर मन्दभागी दीखने का अपराध मैं नहीं कर सकता।

पर अदब-कायदे के प्रति अवज्ञा उनमें नहीं है। अवज्ञा किसी के प्रति नहीं है। इस बारे में वह कमजोर तक हैं। पुरानी परिपाटी का अदब-कायदा उनसे नहीं छूट सकता। वह हरेक से शालीनता की आशा रखते हैं। छोटा-छोटा है, बड़ा बड़ा है। सबको अपना पद देखकर चलना चाहिए। अपने प्रति भी अविनय उन्हें दुस्सह है। इसलिए कम कि वह उनके प्रति है, अधिक इसलिए कि वह अविनय है। इसी से अविनय के लिए वह अपने समान किसी को क्षमा नहीं कर सकते। वह निवेदन तक भुक्त सकते हैं। हो सकता है कि भुक्तने में वह हृद लॉथ जायें। पर किसी के मान को चुनौती दें, यह असम्भव है। अपने से बड़ों को बड़ा मानते हैं और यह हो सकता है कि इसमें अपने से छोटों को भी बड़ा मान बैठें। लेकिन जिनको अपने से छोटा मानना होता है, उनसे वह प्रत्याशा रखते हैं कि छोटों की तरह बड़ों का मान रखकर वे चलें। वय की अवज्ञा उन्हें नापसन्द है। और, वय की वृद्धता के कारण मूढ़ भी उनके निकट आदरणीय हो सकता है। विद्या बुद्धि नहीं, गुण भी उतना नहीं, जितना सामाजिकता के लिहाज से मनुष्य-मनुष्य के प्रति अपने व्यवहार में वह भेद करते हैं। राजा और रंक उनके लिए समान नहीं हैं। राजा को 'हुजूर' कहेंगे, रंक को 'तू' भी कह देंगे। लेकिन दबेंगे राजा से नहीं, दबाएँगे रंक को भी नहीं।

सामाजिक मर्यादाओं को बुद्धि-बल से इन्कार करके चलने की उनमें

स्पद्धा नहीं है। वैसी रुचि और संस्कार ही नहीं है। व्यावहारिक समता उनके संस्कारों के प्रतिकूल है। हरिजन के अर्थ जबरदस्त कविता और जबरदस्त उत्सर्ग वह कर सकते हैं, पर चाँके की और बान है। और छूत-छूत — वह भी और बात है।

(५)

कवि में साधारण व्यक्ति से क्या विशिष्टता है? शायद यह कि वह भावुक अधिक होता है। भावुक अधिक, इसमें गर्भित है कि सहनशील कम। दृढ़ की जगह उसे कोमल होना चाहिए।

मानव-स्वभाव का विकास दोहरा होता है, दो दिशाओं में होता है। एक ओर उपमा व्यक्तित्व की दी जाती है कि पर्वत की नाई अचल, वज्र की भाँति अनिवार्य और कठोर, इत्यादि। ये उपमाएँ सन्त-महात्माओं पर फ़वती हैं। दूसरे तरह की उपमाएँ हैं कि कुसुमवत् कोमल, जल सरीखा तरल, आदि। इन उपमाओं के योग्य कवि होते हैं। जैसे बारीक तार का कसा हुआ कोई कोमल वाद्य-यन्त्र। तनिक चोट लगी कि उसमें से भँकार फूट आई।

मैथिलीशरण किस कोमल वाद्य-यन्त्र के समान हैं, यह तो मैं नहीं जानता। संवेदन की मूर्च्छना की सूक्ष्मता मैं क्या समझूँ। लेकिन वह अपने आवेशों को वश में रखने वाले महात्मा नहीं हैं। आवेशों के साथ बहुत-कुछ सम-स्वर होकर बज उठने वाला कवि का स्वभाव उनका है। बहुत-कुछ सम-स्वर कहा, एकदम एक-स्वर नहीं कहा। जो पूरी तरह अपनी ही तरंगों के साथ एकात्म है, उनमें तो मानो अपना कुछ है ही नहीं। जो है, त्रिशूलात्मक लीला है। वे स्वयं उद्वेलित नहीं होते। ऐसा पुरुष कवि होता है और अनायास महात्मा भी वह है। मैथिलीशरण उनमें नहीं हैं। पर अपने आवेशों के साथ हार्दिक वह अवश्य हैं। इसी से उनके काव्य में प्रेरणा है और सच्चाई है। भोंका आया कि उनके क्रोध में नयने फूल आए, आँखें लाल हो गईं और शिराएँ मानी फड़क उठीं। यह हो सकता है।

पर भोंका बीता कि किस बात पर उनकी आँखें नहीं डबडबा आएँगी, यह आप नहीं कह सकते ।

कभी कविता-पाठ करते आपने उन्हें देखा है ? मैंने देखा है । उसमें संगीत की बहार नहीं रहती । अभिनय-कौशल नहीं रहता । पर जैसे उनकी वाणी कविता के भाव के साथ एकरूप हो जाती है । जो शब्द है, मानो वही स्वर है । स्वर का आरोह भाव की लय पर मानो आप ही उठता है और भाव के उतरने के साथ मानो अवरोह स्वयं शनैः शनैः आ जाता है । ध्वनि लय के अनुसार चलती है । कविता के भाव से अलग होकर मैथिली-शरणजी के काव्य-पाठ में श्रोता के लिए मानो रस की कोई बात नहीं रहती । जो कविता है, वही कविता का पाठ है ।

मैथिलीशरण स्वकेन्द्रित नहीं हैं । इससे उनकी कविता भक्ति की प्रेरणा में से आकर भी रहस्यमयी नहीं है, उपासना-मयी है । न उसमें चहुँ-ओर के दबाव की पीड़ा है । समस्या के भार से भरी दुई वह नहीं हैं । उसमें आवेदन और निवेदन का स्वर मध्यम है । उसमें कुछ-कुछ आदेश की बलिष्ठता है, और प्रतिपादन की स्पष्टता है । उनका काव्य कथानुसारी है । वह घटना के साथ चलता है । वह आत्मा-लक्षी नहीं, स्व परोपकारोप लक्षी है ।

मैथिलीशरण कोमल हैं तो दूसरे को लेकर, भाव-प्रवण हैं तो दूसरे के निमित्त । मानो स्वयं में उनके पास कुछ खरचने को नहीं है । पुण्यश्लोक पुण्यों की गाथाएँ हैं, और उनका ही गान उन्हें बस है । उसके आगे अपना निज का आवेदन-निवेदन क्या ?

(६)

मुझे प्रेमचन्द की याद आती है । प्रेमचन्द निरीह थे, एकाकी । मैथिली-शरण अमित्र नहीं हैं, उस अर्थ में अकेले नहीं हैं । प्रेमचन्द दुनिया को लेकर परेशान रहे । उसका सुधार करते रहे और अपना बिगाड़ करते रहे । कर्म में लोक-संग्रह से विमुख रहे, चिन्ताओं में लोक-समस्याओं से घिरे

रहे। मैथिलीशरण लोक-संग्रह से उतने विमुख नहीं हैं और उनकी बुद्धि लोकोत्तर की ओर है। उनका इहलोक अस्त-व्यस्त नहीं है। उनकी चिन्ता इससे सुविधा-प्राप्त है। प्रेमचन्द मानसिक चिन्ता, यानी साहित्य से इस लोक के थे। ऐहिक कार्य के दृष्टिकोण से मानो वह यहाँ रहते नहीं थे। पर मैथिलीशरण का साहित्य द्वारा लोकोत्तर से नाता है। ऐहिक विचार में वह ऐहिक हैं।

मशीन में मैथिलीशरण कविता से शायद कम दिलचस्पी नहीं लेते। कल-पुरजों में उन्हें अच्छी गति है, और रस है। आपके यहाँ कोई पुराना एन्जिन है तो मैथिलीशरणजी को याद कीजिए। वह जरूर कुछ आफ़र देंगे। अरे, एन्जिन ठीक होकर आज नहीं कल तो काम आयेगा। व्यवहार में व्यर्थता छूट जाय तो छूट जाय, पर काम की बात उनसे नहीं छूट सकती। वह जब बनिये हैं, तो अधूरे नहीं हैं। यह पक्ष उनमें पूरा उतरता है। चाहे इस पक्ष में ब्राह्मणत्व उनका कुछ ढब भी क्यों न जाता हो। वह टोटे में रहना नहीं जानते। और टोटा है तो व्यवसाय का टोटा है, जो कि लगा ही रहता है। यह नहीं कि वह पैसा कमाने के सम्बन्ध में बहुत तल्लीन हो सकते हैं। मुझे जान पड़ता है कि द्रव्य-विचार में उन्हें लीनता प्राप्त हो नहीं सकती। पर व्यवसाय की बात में अचतुर उन्हें आप मत जानियेगा।

अपने सम्बन्धों के बारे में वह सावधान हैं। हर कोई उनका दोस्त नहीं बन सकता। पर दोस्त बनकर कुछ और नहीं बन सकता। उनका विश्वास मँहंगा है। दिल वह अपना बहुत अधिक नहीं बाँटते। वह भीड़ के आदमी नहीं। भीड़ में वह अकेले हैं। न वह भीड़ को दिशा दे सकते हैं, न उसका साथ दे सकते हैं। वाणी उनकी मुक्त नहीं और वह प्रवास-भीरु तो क्या, पब्लिक-भीरु हैं।

बहुत-कुछ उनको अनायास सिद्ध है। कविता में शब्द और तुक। सफ़र में तीसरा दर्जा। भूपा में सादगी। वेश में चिरगाँवता। प्रेम में अपत्य-प्रेम। वाणी में मित-भाषण और साहित्य में सुगन्धि। इन सभी के लिए प्रयासी को प्रयास लगता है। राष्ट्रीय व्यक्ति के लिए रेल का तीसरा दर्जा अभी तक

महज नहीं है, वह गौरव का विषय है। किन्हीं को जरूरत रहती है कि कोई उन्हें देखे, किन्हीं को झगगत रहती है कि कोई उन्हें न देखे। यही हाल हमारे साथ मादगी का है। पर मैथिलीशरणजी को मालूम होता है कि दूसरी कोई बात मालूम नहीं।

वह अंग्रेजी नहीं जानते। पर अंग्रेजी में चलने वाली राजनीति को वह जानते हैं। सवेरे डाक आई कि चिट्ठियाँ देखां। फिर अखबार ले लिए। अखबार जल्दी उनसे नहीं छूटते। वह बातों को जानकर नहीं, जिन्हें जानते हैं उनके विषय में कुछ महसूस करके ठम लेते हैं। वह अपने जानने को मानो हृदय के साथ भी जोड़े रखना चाहते हैं। इससे आधुनिक विचार-धाराओं से वह अवगत ही नहीं रहते, उनके प्रति सहानुभूति रख सकते हैं। उनकी आस्था बौद्धिक नहीं है। बौद्धिक तल पर अतः वह बन्धनहीन और उदार हैं और धीरता से प्रश्नों की गहराई छू सकते हैं। बारीक बातें उनसे नहीं वचतीं और मानस-सम्बन्धों की परख में वह सूक्ष्म-दर्शी हैं। चिरगाँव से न टलना उनके हक में भीरता ही नहीं है, साधना भी है। प्रकृति से अधिक वे साधना से कवि हैं।

जयशंकर प्रसाद

प्रश्न—प्रसाद जी से मिलने की बात आपकी उत्कण्ठा में से निकली थी अथवा यूँ ही संयोग मिलने का हो गया था। मिलने पर कैसे लगे आपको प्रसाद जी ?

उत्तर—उत्कण्ठा मैं से ऐसे संयोग का आना कम सम्भव होता है। मुझमें इतना साहस ही न था, न कर्मण्यता। सच यह कि साहित्य में मैं विचार से नहीं आया, न पात्रता से। एकाध कहानी मेरी लिखी छप चुकी होगी, तब की बात है। आचार्य प्तुरसेनजी पूछ बैठे, “...और प्रसाद की कहानी तुम्हें कैसी लगती है ?” मैंने निर्दोष भाव से पूछा, “कौन प्रसाद ?” शास्त्रीजी चकित रह गए। बोले, “एँ, प्रसाद को नहीं जानते ?” मैंने उसी मात्स्य भाव से कहा, “नहीं तो ?” बोले, “तब तुम कुछ नहीं जानते ? प्रसाद को जरूर जानना चाहिए।” लौटकर वहाँ से सीधे मैं लायब्रेरी गया। प्रसाद की ‘कामना’ उन समय वहाँ मिली। दूसरी पुस्तकें गई हुई थीं। ‘कामना’ मैं घर ले आया और तभी पढ़ गया। पढ़ना था कि प्रसाद के जादू में डूब रहना था। इसके कुछ ही महीने अनन्तर की बात है। इलाहाबाद कुम्भ का मेला था। वहाँ गया और वहाँ से बनारस श्री नन्ददुलारे बाजपेयी की एक चिट्ठी दिल्ली में मुझे मिल गई थी। उसका सहारा था। सीधे उनसे मिलने काशी विश्वविद्यालय पहुँच गया। इधर-उधर की बातचीत में उन्होंने कहा, “चलो, प्रसाद जी के यहाँ चलें ?” ऐसे उनसे भेंट का संयोग आ पहुँचा। अन्यथा मुझमें अपनी शक्ति कुछ न थी।

मिलने पर कैसे लगे ? निश्चय अच्छे । पर कुछ दूर में लगे । दूरी शायद जरूरी भी थी । क्योंकि मैं अज्ञान बालक था । वह हिन्दी के कवि-गुरु ? एक और भी बात हो गई । राह में बाजपेयीजी से एक चर्चा चलती आ रही थी, नीति और नैतिकता के बारे में । ऐसा लग रहा था कि हम एकमत नहीं हैं । मैं नन्ददुलारे जी को अनीति का भी समर्थन करता मालूम होता था । वह अनीति को कैसे सह सकते थे । नीति का सीधा खण्डन या अनीति का सीधा समर्थन होता तो भी बात थी । पर शायद मैं ऐसा लगता था कि नीति-अनीति को घपले में डालकर प्रश्न से और उसके दायित्व से बचता हूँ । यहाँ उन्हें मेरे तर्क में कचाई लगती थी, और वह उस पर प्रसन्न नहीं थे । मैं सचमुच निश्चित नहीं था और अब भी नहीं हूँ । उसी विवाद को उन्होंने प्रसाद जी के समक्ष निर्णय के लिए रखा । पहले ही अवसर पर फैसला देने का काम अपने ऊपर पाकर उन्हें यूँ भी शायद दूर ही रहना उचित था । वह पान की गिलौरियाँ ढाँढाकर हमें देते गए, स्वयं भी लेते रहे और सस्मित, ध्यान से हम विवादियों की बात सुनते गए । मैंने कहा, “सस्मित ?” और यह व्यर्थ विशेषण नहीं है । आलंकारिक नहीं है, यथार्थ है । उनकी यही स्थिति थी । यानी हमारी चर्चा पर वह वैसी ही सस्नेह कृपा से देख रहे थे जैसे अभिभावक उलझते बालकों को देखे । आप समझते हैं उन्होंने फैसला दिया ? फैसले में उन्होंने मुस्क-गाहट ही दी । उस मुस्कराहट को बाजपेयी जी अपने पक्ष में समझें लेकिन मैं भी अपने विपक्ष में नहीं समझ सका । यह प्रसाद जी थे । मुझे सचमुच अच्छे लगे, लेकिन जैसा कहा निकट नहीं लगे । खुले नहीं लगे, जैसे कि प्रेमचन्द पहली ही मुलाकात में लग सके ?

प्रश्न—यह वेगानापन जो उनके दूर का प्रतीत होने से भलकता है, क्या इसमें यह सत्य निहित नहीं है कि प्रसाद जी ने अपने युग की समस्याओं का समाधान अतीत में से खोजने का प्रयास किया था ?

उत्तर—वह सब मैं नहीं जानता । हर आदमी खुद होता है ? यानी

दूसरे से भिन्न होता है। जैसे प्रसाद के लिए आनश्यक था कि वह प्रेमचन्द न हों। इस अलगपन को हम कम-बढ़ की भाषा में तौलकर न दें। व्यक्ति जैसा हो उसके होने में, कुछ तो कारण होते ही हैं। कुछ पैतृक, कुछ पारि-पार्श्विक, कुछ स्वाभाविक और प्रवृत्तिजन्य। वह एक स्वतन्त्र अध्ययन का क्षेत्र है। मुझे उसमें जाना नहीं है। न वैसी वृत्ति है और न वह क्षमता।

प्रश्न—जाना तो चाहिए क्योंकि स्वयं उनके समकालीन लेखक प्रेमचन्द भी गए थे और उन्होंने एक पत्र लिखकर प्रसाद को जहाँ साधुवाद दिया था वहाँ उनके गड़े-मुर्दों का उत्खनन करने की भावना को ललकारा भी था और स्वयं प्रसाद जी ने उस पत्र का अपना नेता मानकर अपने साहित्य को प्रेमचन्द के आदर्शों की अनुकूलता देने का प्रयास भी किया था ?

उत्तर—मैं समझा नहीं ? दिशा गन्तव्य है ! इसलिए सभी उस एक दिशा में चले तो भीड़ इतनी होगी कि गति न हो पाएगी। आखिर विरोधों के लिए कुछ छोड़ने दीजिएगा न ? हाँ, वह पत्र क्या था जिसका चित्र आपने किया ? मुझे उसका पता नहीं है ?

प्रश्न—उस पत्र का आशय यही था कि प्रेमचन्द जी ने प्रसाद जी से यही चाहा था कि वह अपने युग की समस्याओं को लेकर जनता का नेतृत्व करने की कोशिश करें।

उत्तर—तो प्रेमचन्द जी के इस चाहने के बारे में मुझसे आप क्या चाहते हैं ?

प्रश्न—यही कि प्रसाद जी ने अपने युग की समस्याओं पर आपकी समझ में कितना कुछ कहा ? या आप यह बताने की कृपा करें कि प्रसाद साहित्यकार के इस दायित्व को कितनी सीमा तक अंगीकार करते थे ?

उत्तर—समस्या सब तात्कालिक होती हैं। जिस क्षण में है, आदमी की अनुभूति उस क्षण से पृथक् नहीं है। युग क्षण में नहीं कहता। दस वर्ष की दशाब्दी, पचास को अर्ध शताब्दी, सौ को शताब्दी कहते हैं। युग

दस वर्ष में बदलता है, पचास में या कम अधिक में, ठीक मैं जानता नहीं इसलिए युग की बात भी नहीं जानता । अनुभूति की अभिव्यक्ति का पात्र या माध्यम हम कहीं से खोज या चुन लें । आसपास के वर्तमान में से उठा लें ? अतीत में से ढूँढ़ लें, या भावी में निर्मित कर लें । इस सब से कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता । अनुभूति का दान उसका निस्व-विसर्जन, उसका सफल अभिप्रेषण ही मुख्य बात है । वर्तमान में से जीते-जागते समझे जाने वाले चरित्र को उठाकर हम अपनी निर्वीर्यता से मुर्दा लग सकते हैं । या अपने सर्वस्व के पूर्णार्पण से सहस्राब्दी पहिले के माने-जाने वाले पात्र को प्रखर और प्रोज्ज्वल कर दे सकते हैं । या केवल कल्पना की सृष्टि से नए चरित्र दे सकते हैं, जो काल की अपेक्षा इस या उस किसी युग के न हों और केवल कल्पना-लोक के हों । मैं नहीं मानता कि प्रसाद ने यदि ऐतिहासिक पात्र लिए तो यह प्रगति से विमुख ही कार्य किया । चन्द्रगुप्त और समुद्र-गुप्त हों अतीत के और वह भी बीत चुके हों लेकिन पढ़ते हुए वे मुझे अपने भी मालूम हो सके । वर्तमान स्वयं अपने में बन्द नहीं है । असल में अपने में कुछ है ही नहीं । अनादि अतीत और अनन्त भविष्य की रेखाओं का वह सम्मिलित बिन्दु है जिसकी अपनी कोई इयता नहीं है । इससे वर्तमान पर भी रहने का आग्रह मुझे समझ नहीं आता । जो है वर्तमान ही है । जो सजीव लगता है निश्चय उसमें वर्तमानता के तत्त्व हैं । वर्तमानता वहाँ अविद्यमान है जहाँ यों सब आधुनिक हो और भीतर प्राण का असद्-भाव हो । जीवन का प्रत्येक क्षण वर्तमान है । इसीलिए जीवन को जगाने वाली वह स्मृति हमें वर्तमान है जिसका खोल वर्षों पीछे हम से दूर चला गया; लेकिन पड़ोस में हुई इसी क्षण की मौत हमारे लिए अवर्तमान हो जाती है । प्रसाद की 'कामना' को ही लीजिए, उसके पात्र तो ऐतिहासिक भी नहीं हैं । वे तो विवेक हैं—भावना-शरीर प्रतीकात्मक, इतने ही से अयथार्थ कहकर अपने से उन्हें दूर करते न बनता । वे भीतर उतरकर हम आपको भिगो देते हैं । मानना होगा कि प्रसाद कथा के कथन में भी कवि हैं । इसी से अपनी अभिव्यंजना के उपादान और उपकरण कुछ ऐसे जुटाते हैं, जो कल्पना

से मनोरम हों और जिनको विद्यमान के सन्दर्भ से मुक्त होकर अतिमासुपिक यहाँ तक कि अमासुपिक होने की सुविधा हो। कवि का काम हम-तुम जैसे निरे साधारण जनों से न चले, तो क्या हम यही न मान लें कि वह काम असल में है ही असाधारण। इसी से वह असाधारण के नियोजक की आवश्यकता में रहता है ?

प्रश्न—क्या इसी असाधारण को कल्पना की पकड़ में लाने के लिए लेखक अतीत की खोज नहीं करता और इस प्रयास में जीवित वर्तमान के ऊपर अतीत के वर्तमान को लादकर समाज की वैज्ञानिक प्रगति के मार्ग का अवरोध नहीं बन जाता ? प्रसादजी को आप पुनरुत्थानवादी क्या नहीं मानते ?

उत्तर—वाद और वादी शब्द से मैं बचता हूँ। क्योंकि इसमें विवाद की ललकार है। आपने कहा पुनरुत्थान ? उसके पहिले मैं एक पुनः और लगाने को तैयार हूँ ? यानी मैं पुनः-पुनः उत्थान चाहता हूँ। अतीत के वर्तमान को सद्यः वर्तमान पर लादने की इच्छा को अनिष्ट आप कह सकते हैं, पर वह जो आज के इस समय के वर्तमान से तुष्ट है, उससे कुछ भी भिन्न और कुछ नहीं चाहता। उसे क्या आप जीवित तक भी मान सकेंगे ? स्टेटस-को के समर्थक को कौन महत्त्व दे सकता है। वह तो आज में होकर आज ही चुप रहने वाला प्राणी है। उसमें सम्भावनाएँ नहीं हैं। यानी तात्कालिक वर्तमान को हम किसी दिशा में परिणत हुआ देखना चाहते हैं और उस अध्यवसाय में लगे हैं। इसी से हम अपने को जीवित मान सकते हैं। वह दिशा दोनों ओर जा सकती है। ऐतिहासिक की ओर और काल्पनिक की ओर। सूक्ष्मवृत्ति काल्पनिक की ओर जाती है। स्थल चित्रीकरण के लिए इतिहासगत अतीत सहज सुविधा प्रदान करता है। अतीत के इस उपयोग में मैं कुछ अन्यथा नहीं देखता।

प्रसाद पुनरुत्थान के चित्र में सोचते कहे जायें तो मैं असहमत न हूँगा। उसके वादी को मैं नहीं जानता। प्रसाद भी मेरे जान में उसके वादी नहीं थे।

रही बाधा की बात, सो समसामयिक किसी व्यस्त राजकर्मों से पूछिए । उसे वर्तमान के उद्धार के सिवा दूसरी चिन्ता नहीं है । खुलकर मन की कहे तो आपको मालूम हो जायगा कि हर कवि कल्पना-विलासी है और हर कल्पक, हर स्रष्टा नित्य नैमित्तिक कर्म-प्रगति के लिए अविचारणीय है, क्योंकि उसमें साधक से अधिक उपाधक है ।

प्रश्न—बताइए तो समूचे प्रसाद का कौन-सा पहलू आपको अधिक प्रिय लगा ।

उत्तर—शायद अविश्वास का पहलू । मेरे भाव में वह पहले बड़े नास्तिक लेखक हैं । प्रेमचन्द मूल में नास्तिक नहीं थे, उनकी नास्तिकता ईश्वर के आसपास चुक जाती थी । वैसे वह विश्वासी थे, और वेहद मज्ज-बूती के साथ । आखिर की ओर वह कुछ हिले लगते हैं । पर तब तक वह तिरोहित ही लगते हैं । लेकिन प्रसाद ने मस्तक नहीं झुकाया । हर मत-मान्यता को सामाजिक हो कि नैतिक, धार्मिक हो कि राजकीय, उन्होंने प्रश्नवाचक के साथ लिया । किसी को अन्तिम नहीं माना । 'कंकाल' इसी से कितना भयंकर हो उठा है, मानो काया की कमनीयता पर रीझने को तैयार नहीं हैं । शल्यक्रिया से भीतर के कदर्य और कुत्सित बाहर लाकर बिखेर देने में उन्हें हिचक नहीं है, उनका यह रूप जो सांसारिक के प्रच्छन्न में उनका अपना और अत्यन्त निजीय था और जो उनकी रचनाओं में नाना रंगीन छटाओं से रंजित होकर प्रकट हुआ है, मुझे अधिक प्रिय हुआ और है । देखने में वह अत्यन्त भव्य और सुघर नागरिक थे । कुवचि-सूचक परिधान, सम्भ्रान्त व्यवहार, व्यवस्थित मुद्रा यह सब उनके सांसारिक रूप के अनिवार्य तत्त्व थे । कुदंग उन्हें शायद कभी नहीं देखा जा सका । यह सब जैसे उनका धर्म था । मानो उनका जीवन बड़ा ड्राइंग-रूम था । इसी से जितना लिखा उन्होंने अगोचर में लिखा । सुनते हैं, वह रात में (ही) लिखते थे । जैसे दिन में जग के थे, रात की अकेली घड़ियों में अपने होने पर आते थे ।

मुझे वह शिष्ट, सम्य, कुलीन रूप उतना नहीं भाया । शायद इसी कारण कि वह इतना निर्दोष और सुन्दर था । उस पर शालीनता की छाप

थी। इस वस्तु को मैं आत्मा से अधिक पैसे के साथ जोड़ता हूँ। मैं प्रसाद से मिला अनेकों बार, लेकिन एक साथ कभी अधिक बात के लिए नहीं? इससे सामाजिक रूप से उस प्राचीर को चीरकर वास्तव अन्तःप्रवेश पा सका, ऐसा मुझे आश्वासन नहीं है। इसी से मैंने कहा कि मुझे दूर लगे। दूर लगे और दूर लगते रहे। मैंने अनुभव तो किया कि आमन्त्रण है और भीतर भी प्रवेश मेरे लिए निषिद्ध न होगा, पर मैं उसका लाभ न उठा पाया। शायद एक कारण यह कि प्रेमचन्द से मैं अभी अभिन्नप्राय था।

प्रश्न—आपने उन्हें पहले बड़े नास्तिक लेखक कहा। क्या इसका मतलब यह कि दमन के बजाय उपभोग और संयम की जगह आनन्द को उन्होंने खुला प्रश्रय और समर्थन दिया। क्या यह आप मानने देंगे कि शब्द से ही नहीं जीवन से भी उन्होंने यह प्रमाणित और पुष्ट किया?

उत्तर—हाँ, और उनकी अन्तिम रचना 'इरावती' के गिनती के पन्ने पढ़कर, यह बात स्पष्ट हो जाती है। नकार और निषेध को लेकर उठने वाले दर्शनों का उन्होंने प्राणपण से निराकरण किया। और उस दर्शन को प्रतिष्ठित करना चाहा, जो जीवन के प्रति निरपवाद स्वीकृति का निमन्त्रण देता है। हिन्दुत्व की उनकी ऐसी ही धारणा थी। बौद्ध और जैन परम्पराओं में उन्होंने वर्जन पर बल देखा और वह उन्हें किसी रूप में मान्य न था। मुझे लगता है जैसे उनके साहित्य का यह मूल भार—मूल कोण है। उनके नाटकों में यह अन्तर्भूत है।

इन्द्रिय-निग्रह, तप, त्याग, तितिक्षा आदि मूल्यों और मानों से असहमति और उनकी अवगणना देखने को उनकी रचनाओं में बहुत गहरे जाने की आवश्यकता नहीं है। इन मूल्यों के प्रतीक मात्र स्पष्ट ही लेखक की गहरी सराहना और सहायुभूति नहीं पा सके। लेखक की ओर से वे कहीं व्यंग्य के भी पात्र हुए हैं। उनके जीवन में भी निग्रह की प्रधानता न थी। वह वदान्य था, रसमय था, रसाकांक्षी था। उसमें समीकरण की चेष्टा थी। स्वलन की भाषा में उस वृत्ति को समझना गलत समझना है। किन्तु

निश्चय ही दीखने वाले राग और रंग से भय का भी उन्होंने सहारा नहीं लिया जो कि अकस्मर वैराग्य के मूल में हो सकता है।

उनकी अतिशय राप्रश्नता, प्रखर बौद्धिकता, जैसा कि अनिवार्य है, उन्हें उस जगह तक ले गई, जहाँ खुद बुद्धि पर टिक रहना व्यक्ति के लिए सम्भव नहीं रहता। अपनी परिपक्व परिणति में बुद्धि यह दिखाए बिना नहीं रह सकती कि वह अपर्याप्त है और श्रद्धा से भी पूरी हो सकती है। 'कामायनी' का अभी काग़ज़ पर आरम्भ न हुआ था, मस्तिष्क में वह बन रही थी, उस समय की बात है। मैं बनारस जाता और हम लोग बेनिया-पार्क घूमा करते थे। प्रेमचन्द तो होते ही। कभी और भी दो एक-साथ हो जाते थे। उस समय कई बार और पार्क के कई चक्करों में उन्होंने 'कामायनी' की बुमडती हुई कथा सुनाई है। किताब में शब्द ठण्डे हैं। नाना-मंगिमाओं और इंगितों से उस समय का वह वर्णन खूब ही प्रगल्भ हो आया था। उस ग्रन्थ में 'श्रद्धा' को पूरा और योग्य स्थान मिला है। इसका आशय यह न समझा जाय कि पहली मेरी स्थापना सदेव है। बल्कि यही कि 'श्रद्धा' की स्वीकृति उन्हें बुद्धि द्वारा हो सकी है। जैसे बुद्धि माध्यम है, श्रद्धा बिना उसके अग्रग है। यह मैं अपनी ओर से जोड़कर नहीं कहता। उन चक्करों की चर्चाओं की संगति में ही कहता हूँ।

प्रश्न—क्या 'कामायनी' के मनु के रूप में कवि 'प्रसाद' के व्यक्ति का ही प्रतिफलन आप मानते हैं ?

उत्तर—साहित्य-सृष्टि में साहित्यकार अपनी परिपूर्ति ही खोजता है। इस दृष्टि से आपका कहना सही हो सकता है। बौद्धिक जीवन कभी सम्पूर्ण और सहज नहीं हो पाता, वह द्वन्द्व से युक्त रहता है। द्वन्द्व की तीव्रता ही निर्द्वन्द्वावस्था की कामना उत्पन्न करती है। ऐसे, सन्देह स्वयं समाहित होने को श्रद्धा की ओर बढ़ता है। वह अनिवार्य गति है। और चेषित न भी हो बौद्धिकता की परिणति उनी ओर है, यद्यपि वह बस-भर उससे यानी अपने भवितव्य से द्वन्द्व ही छुड़े रहती है। मनु में बिलकुल हो सकता है उन्होंने अपने उसको उतार देखना चाहा हो, जो वह सत्य में तो थे पर

वास्ताव में न हो पाए ।

प्रश्न—किसी अपनी संस्मरणीय स्मृति का उल्लेख भी तो कीजिए ।

उत्तर—क्या सुनाऊँ ? शायद सन् '३३ की बात है । भाई सच्चिदानन्द वात्स्यायन (अज्ञेय) ने कुछ कविताएँ अपनी छुपानी चार्हीं । जेल से उन्होंने लिखा कि क्या आप यह सम्भव कर सकते हैं कि प्रसाद प्रस्तावना के दो शब्द लिख दें । बनारस जाना हुआ तो हम—मैं और प्रेमचन्द—विधिवत् प्रसाद के यहाँ पहुँचे । विधिवत् से आशय कि मिले सघेरे चक्कर पर भी थे, पर प्रयोजन की बात के लिए अलग से जाना उचित था । मैंने 'भग्नदूत' की लिपि सामने की, कहा कि सुदई जेल में है, खुद अपना मामला सामने नहीं रख सकते, इससे मेरी बात को दुगुना वजन समझें । पहले पूछा, "कौन हैं ?" मैंने कह दिया कि मैं आया हूँ, कह रहा हूँ, इसी से जान लीजिए । थोड़ी देर चुप रहे । बोले, "तुम कुछ चाहोगे, यह मैंने नहीं सोचा था, पर तुमने भी न सोचा होगा कि तुम कहोगे और 'प्रसाद' न कर पाएगा, पर विनोदशंकर व्यास को तो जानते हो, कितना निकट है ? कभी मैं उसके लिए भी कुछ लिखकर नहीं दे सका हूँ । अब तुम्हीं बताओ ?" मैंने कहा, "मुझसे न पूछिए, क्योंकि मेरा बताना एकदम आसान है । लीजिए बताता हूँ कि लिखना मान लीजिए और कुछ नहीं तो कारण यही कि अज्ञेय आपके लिए अज्ञात है और जेल में है ।"

'प्रसाद' ने मुझे देखा । आधे मिनट मुँह नहीं बोला, पर आँखें उनकी विवशता प्रकट कर रही थीं । आखिर बोले, "जैनेन्द्र ?"

आगे न कह पाए और चुप रह गए । मैंने भेंप की हँसी हँसकर पाण्डुलिपि अपनी ओर खींची और कहा कि कहिए, कोरा तो आपके यहाँ से कभी कोई गया नहीं, कब कुछ आ रहा है ।

जलपान के आने की आशा हो चुकी ही थी । व्यस्ततापूर्वक उठे कि तश्तरियाँ आ उपस्थित हुईं । इधर-उधर की गपशप और हँसी-मजाक होती रही । आखिर कह उठे ।

प्रसाद ने उठते हुए कहा, “कहेंगे तो तुम जैनेन्द्र कि एक बात तो तुमने कही और ‘प्रसाद’ ने वह भी न रखी।”

“क्यों साहब”, मैंने कहा, “यह कहना भी अब मुझमें छीन लेंगे आप ? एक तो आपने बात रखी नहीं, फिर हम कह भी न पाएँ कि नहीं रखी। कहिए प्रेमचन्द जी, यह अन्याय रहा जाय और अपनी वाक्-स्वतन्त्रता को छिन जाने दिया जाय।”

प्रेमचन्द ने ठहाका लगाया। उसमें प्रसाद भी शामिल हुए। देखा कि उनके हास्य में कहीं कुछ नहीं है। वह निर्मल है और नाममभी के लिए कहीं ठहरने को वहाँ जगह नहीं है।

हम चले आए। प्रेमचन्द ने गली में कहा कि तुमने बदला ले ही लिया। मैंने कहा कि बदला पहुँचा कहाँ। वह तो ज्यों-का-त्यों मुझ तक लौट आया। प्रसाद को उसने छुआ कहाँ ? प्रेमचन्द ने कहा, “बात ठीक है। खूब आदमी है प्रसाद ?”

समझा गया कि प्रेमचन्द और प्रसाद में वनती नहीं है। पर प्रेमचन्द के शव-दाह से लौटे तो देखा गया कि हम वहाँ तीन ही हैं—(धुन्नू-बन्नू की बात नहीं कहता। वे थे भी छोटे और अलग) शिवरानीजी हर द्वारस के लिए प्रसाद को देखती हैं और मुझे भी वही सान्त्वना है। इस मृत्यु के बाद अपनी मृत्यु पास बुला लेने में उन्होंने एक वर्ष भी नहीं लगाया। कौन जानता है, इस जल्दी में प्रेमचन्द के अभाव का भी योग न था।

शुक्लजी की मानसिक भूमिका

लेख के लिए आपका तकाजा फिर मिला। यह अदया है। मेरी निरीहता का क्या आपको पता नहीं है? मैं श्रद्धा चाहता हूँ। यहाँ कौन पूर्ण है? पर गुरु-जन की गुरुता देखूँ, कि अपूर्णता देखूँ? अपूर्णता में भाँकने से क्या हाथ आता है?

पर आप हैं कि उकसाते हैं कि स्वर्गीय व्यक्ति को मैं अन्दाज में लूँ और आपके पत्र में खाका दूँ। मैं सामान्यतः उस काम के लिए अनाड़ी हूँ। हिन्दी लिखने के किनारे दस-एक साल पहले जाने मैं कैसे आ लगा। अब भी गति निगुरे की है। अचरज हो, पर सच है कि लिखने लगने के काफ़ी दिन बाद तक मैंने शुक्लजी का नाम भी नहीं जाना। मेरी भानजी हिन्दी-परीक्षा में बैठी तब कुछ देर के लिए उनका हिन्दी-इतिहास हाथ में आया था। कुछ देर यों कि फिर अध्यापक मिल गए और मुझे छुड़ी हुई। तब किताब को जहाँ-तहाँ से कुछ उलटा-पलटा ही था और उतने से लेखक शुक्लजी का नाम स्मृति पर नहीं उतरा था।

पहिले-पहल इन्दौर-सम्मेलन के सिलसिले में वह नाम मन में आया। वहीं प्रथम दर्शन हुआ। साहित्य-परिषद् के वह सभापति थे। परिषद् बड़े यत्न से उन्हें पा सकी थी। उनकी कृपा कि उन्होंने सभापतित्व स्वीकार किया और आने का कष्ट उठाया। पर आने पर वह परिषद् की कृपा पर दीखते थे। भाषण वह नहीं पढ़ सके। दूसरे ने पढ़ा, पर पूरा नहीं। परिषद् में गड़बड़ भी मची। पर शुक्लजी ऐसे बैठे रहे कि तटस्थ। मानो मुधि भूले दर्शक हों—गम्भीर मुद्रा और दूरस्थ अनासक्ति। मैं नहीं जानता

कि उम अनासक्ति को कर्म और कौशल वाली अनासक्ति मैं कह सकता हूँ।

मञ्च पर प्रस्ताव लेकर एक अपरिचित आ धमके। जाने वे कौन थे। प्रस्ताव अयाचित अनधिकृत था। सभा में उससे खलबली मची। कुछ लोग उसके विरोध पर उतारू दीखे। मञ्च पर आकर एक-आध विरोध में बोल भी गए। पर शुक्लजी क्या करें? मानो वह चाहते थे कि कोई बतावे कि वह क्या करें?

पहली यह छाप मुझ पर पड़ी। इतने पास से मनुष्य की आँखों से मनुष्य को देखना हो सकता था। साहित्यिक दर्शन के लिए दूर जाना जरूरी था। पास से देखा कि वह भमेले के आदमी नहीं हैं। मानों सामने भमेला आ पड़े तो वह खो रहेंगे। कल्पना और सूक्ष्म-बुद्ध का यौवन उनमें न था, उनकी मन्थरता थी।

: २ :

उनका भाषण घर आकर मैंने पढ़ा। अपनी लाज कब तक दकी रखूँ। स्वीकार करूँ कि आसानी से वह भाषण मैं नहीं पढ़ सका। पढ़ते ऊँघ आ जाती थी। आखिरकार कई रोज लगाकर पार तक पहुँचा।

अब उसकी दो बातें याद रही हैं। शुरू में साहित्य-तत्त्व-विचार था; अन्त की ओर हिन्दी-साहित्य की सामयिक गति-विधि का कुछ लेखा। शुरू में पाश्चात्य सौंदर्य-शास्त्रियों के मत के विरोध में अपने यहाँ के रस-शास्त्रियों के पक्ष का प्रतिपादन था। अधिकांश इटली के श्री क्रौचे की खबर ली गई थी।

पहली बात तो यही कि मुझे अप्रसन्नता रही कि पढ़ते मुझे नींद क्यों आती थी। सौ फ्रीसदी अपनी शिकायत मैं अपने पर नहीं समाप्त कर पाता। जी कहता है कि शुक्ल जी को भी अपनी बात कुछ सरस बनाकर कहनी चाहिए थी। मैं थक-थक जाऊँ तो ऐसी पढ़ाई के लिए कृतज्ञ कैसे बन सकूँगा, और मैं शुक्ल जी के प्रति कृतज्ञ बनना चाहता था।

दूसरी बात यह कि पढ़कर क्रौचे उलटे मुझे शुक्ल जी से सही और

सूक्ष्म लगे। उनके उद्धारण मुझे रसीले जान पड़े और अधिक अगुभूति-पूर्ण। मुझे तब खयाल हुआ था कि क्रौंचे महाशय अगर खुद परिषद् में मौजूद होते तो भी शुक्ल जी को उत्तर देने की उन्हें अपने लिए आवश्यकता न जान पड़ती। संक्षेप में क्रौंचे की मूल स्थिति की पहिचान शुक्ल जी को हुई है—भाषण से मुझे ऐसा नहीं लगा। यह मेरी धृष्टता भी हो सकती है क्योंकि क्रौंचे महाशय को मैंने तो बिलकुल नहीं पढ़ा है।

सामयिक गति-विधि का जो निरूपण भाषण के अन्त की ओर था उसमें नामों की विशद सूची थी। कोई भागवान ही नाम बचा होगा। वे नाम परस्पर किस सादृश्य या असादृश्य के द्योतक हैं, इसका विवेचन नहीं था। और मुझे माँग थी तो वैसे विवेचन की।

: ३ :

फिर दिन निकल गए। हिन्दी के साहित्य में यों मैं साँस ले रहा था, पर वहाँ क्या-क्या है, इसका पता नहीं लेता था। शुक्ल जी का नाम सम्मेलन के सभापति पद के लिए जब-तब सामने आया, यह मैंने जाना। उन्होंने इन्कार किया, यह भी मैंने जाना। इसी काल के लगभग जाना कि वह विश्व-विद्यालय में हिन्दी के आचार्य हैं। उनकी प्रतिष्ठा और गौरव और उनके प्रति लोगों की श्रद्धा से मैं प्रभावित हुआ। पर उनका लिखा वाँचने का अवसर तब भी नहीं आया।

अनन्तर किसी संयोग से उनका इतिहास हाथ पड़ा और जहाँ-तहाँ से देख गया। शरम की बात कह दूँ कि इतिहास मैंने यह टटोलने की इच्छा से खोला था वहाँ मैं हूँ तो कहाँ और कैसे हूँ। ग्रन्थ देखकर ग्रन्थकार की गवेषणा और अध्यवसाय की शक्ति से मैं बहुत प्रभावित हुआ। लगभग आतङ्कित ही हो रहा। यह सब छान-बीन और खोज-खबर कैसे की गई होगी; फिर उस सबको एक क्रम में कैसे बाँधा गया होगा; इस सबका धैर्य कैसे उस पुरुष में रहा होगा ?

कि त्थौरस साल 'चिन्तामणि' देखने का सुयोग मिला। उसको मैं पूरा

ध्यागपूर्वक पढ़ गया। पढ़ते-पढ़ते मैं थका तो त्रस्त्र, पर रस भी आया। और मुझे यह पाकर बहुत खुशी हुई कि शुक्ल जी की शक्ति, स्वतन्त्र होकर, (क्योंकि अधिकांश रचनाएँ उनकी सामयिक प्रयोजनों को लेकर लिखी गई हैं) वहाँ लगती है जहाँ कि लगनी चाहिए। अर्थात् मन के गूढ़ व्यापारों की तरह खोलकर उनका मूलोद्गम पाने के वह प्रयागी है। उस मूल-स्रोत की शोध में वह किय हद तक गहरे बैठ सके; मूल तक पहुँचे अथवा कि नहीं यह जुदा प्रश्न है। पर अपने तर्क को निर्मय भाव से उन्होंने उस दिशा में बढ़ाया, यह सन्त है और यह बहुत है।

उसके बाद, काशी-सम्मेलन आया और वहाँ उनके चरणों में भी मैं पहुँच सका। तब 'साहित्य-सन्देश' में 'आलोचना के मान' के पुनर्विचार का प्रश्न मैंने उठाया था। वही उनके सम्मुख रखा। चाहा कि वह इस पर अपने विचार का प्रकाश दें कि साहित्य का अन्तिम समर्थन किन मूल्यों द्वारा परखा जाय? गौन्दर्प के मान से, नीति के लक्ष से, अथवा कि सत्य की तुला से?

उनको दमा था और तरह-तरह की व्यस्तताएँ थीं। तो भी उनमें से मैं आशा लेकर आया कि वह इस बारे में लिखेंगे और अन्वेषण की काटेंगे।

काशी के बाद यहाँ आकर उनके 'इतिहास' के नए संस्करण की बात सुनी। उसमें वर्तमान युग पर एक नया अध्याय जोड़ा गया था। नगेन्द्रजी से वह पुस्तक देखने को मिली तो उस जोड़ को देखकर, सच कहूँ तो, तृप्ति नहीं हुई। उनका वर्गीकरण ऊपरी लगा। जगह-जगह ऐसा मालूम हुआ कि उन्होंने चलताऊ काम निबाह दिया है।

उनके विषय में मेरी जानकारी की गति रुक-रुककर बढ़ रही थी कि हाय, यह क्या? अकस्मात् सुना कि वह इस दुनिया के अब नहीं रहे, प्रस्थान कर गए।

: ४ :

अपना सिर मैंने पीट लिया। कौसी ग्लानि की बात है कि अपने काल

के साहित्यिक इतिहास के मान्य पुरुषों की कृतियों से उसी क्षेत्र में काम करने वाले हम लोग अनजान रहे चले जायें। मुझे क्या हक था कि मैं हिन्दी में जीऊँ और कुछ भी न जानूँ ?

सो, मैं अपने अनुताप को लेकर भाई नगेन्द्र की शरण गया। उनकी कृपा से 'तुलसी', 'जायसी' यथासाध्य देख गया; 'काव्य में रहस्यवाद' नामक निबन्ध पढ़ गया। इतिहास को फिर देखा और छुट-पुट कुछ और भी बाँच लिया।

यह सच है कि शुक्लजी में हमने हिन्दी के इस युग के एक प्रबल पुरुष को खोया है। उनकी नाँव मजबूत थी और वह अडिग थे। ब्यौरों में वह नहीं भूलते थे और सतह को भेदकर नीचे वस्तु की असलियत टटोलने की ओर उनकी वृत्ति थी। अध्वसाय उनका उदाहरणीय था और परिणाम के विचार से वह आक्रान्त नहीं थे, यद्यपि उससे उपकृत थे।

: ५ :

हिन्दी-साहित्य का इतिहास है और उसकी कड़ी हरिश्चन्द्र से नहीं, दसियों शताब्दी दूर से मिलती चली आती है, इस बात को शुक्लजी से पहले किसी ने जाना भी था तो उसको विधिवत् जतलाया नहीं था। शुक्लजी ने वह दृष्टि प्रस्तुत की। इतिहास और भी लिखे गए हैं, पर यदि वे संकलन से कुछ भी अधिक हैं तो शुक्लजी की दी हुई दृष्टि पर ही आधारित हैं। ब्यौरों में फर्क हो, सामग्री के पेश करने के ढंग में कुछ अन्तर हो, लीक वही है। फिर भी कहना होगा कि इतिहास उन्होंने जुटाया है, जगाया नहीं है। अर्थात् सब मिलाकर उनका इतिहास कोई सन्देश नहीं देता। "सात-आठ सौ वर्षों की सञ्चित ग्रन्थ-राशि सामने लगी हुई थी, पर ऐसी निर्दिष्ट सरणियों की उद्भावना नहीं हुई थी जिनके अनुसार सुगमता से इस प्रभूत सामग्री का वर्गीकरण होता।" और "इधर जहाँ से विश्व-विद्यालयों में हिन्दी की उच्च-शिक्षा का विधान हुआ, तब से उसकी विचार-शृंखला इतिहास की आवश्यकता का अनुभव छात्र और अध्यापक

दोनों कर रहे थे ।” इन्हीं दोनों आवश्यकताओं के फल-रूप शुक्लजी का ‘इतिहास’ बना जो कि उन्हीं कारणों से प्रेरणात्मक इतिहास होने में असमर्थ था ।

स्पष्ट है कि अतीत के सम्बन्ध में बहुत-कुछ जानकारी वर्गीकृत रूप में शुक्लजी ने प्रस्तुत की है । उसमें काल-विभाजन है और काफी विगत को एक विशेष संगति में पिरोने की भी कोशिश है । पर वह अतीत के साथ आज के वर्तमान को किसी घनिष्ठ सम्बन्ध में जोड़ सके हैं, या उम अतीत को किसी सुस्पष्ट क्रमागत रूप में दिखा सके हैं, यह सन्तोषपूर्वक कहना कठिन है । इस दिशा में हिन्दी में प्रयत्न होने की आवश्यकता है । इतिहास शुक्लजी के आगे चित्रवत् नहीं आ सका, वह उनके निकट एक फाइल के रूप में था । इस प्रकार का इतिहास भविष्य के लिए मार्ग-दर्शक नहीं होता, न विधायक स्फूर्ति दे पाता है । साहित्य का इतिहास संस्कृति का व्यक्त इतिहास है । क्या शुक्लजी को इसकी पहिचान थी ?

‘तुलसी’ और ‘जायसी’ हिन्दी-आलोचना के क्षेत्र में शुक्लजी की विशिष्ट देन हैं । ये विवेचन बहुमूल्य हैं । अपने विषय को चारों-धूँट से पकड़-बाँधकर फिर उसमें डुबकी लगाते और रत्न चुन लाते हैं । उनके प्रतिपादन में एक प्रकार की व्युहर-चना है । जैसे कोई प्रतिपक्षी हो और उसे घेरकर व्यर्थ करना हो । इसी कारण उनके प्रतिपादन में शास्त्रार्थी के जैसी प्रबलता और उग्रता आ जाती है । मानो तथ्य के उद्घाटन से ही शुक्लजी तृप्त नहीं, उसे विरोधी से मनवा लेना भी चाहते हैं । प्रतिपक्षी के प्रति अनुदार होना उनके लिए कठिन नहीं है । अधिकांश उनके व्यंग्य कटीले हैं । उनकी शैली में लोच नहीं है और दूसरे दृष्टिकोणों के लिए समाई नहीं है ।

वस्तु को अपनी परिपार्श्विक परिस्थिति से तोड़कर, उसको अपने-आप में एक बन्द वृत्त मानकर आलोचना-व्यापार चलाने की पद्धति से मैं सहमत नहीं हूँ । शायद यह पद्धति आज-दिन पुरानी भी समझी जा सकती है । अब तक विज्ञान की यही पद्धति मानी जाती थी । अन्य के सामंजस्य में

नहीं, पर शेष के विरोध में एक वस्तु की यथार्थता और विशिष्टता को तीव्र करके देखा जाता था। पर ऐसे रस खण्ड-खण्ड होकर लुप्त हो जाता है; और सत्य, जो अपनी प्रकृति से ही संयोजक और संयुक्त है, पकड़ से छूट रहता है। इसी से अब बुद्धि-विश्लेषण के दाँतों से पकड़ने के बजाय रस-वस्तु को हृदय की संश्लिष्ट सहानुभूति में उतारने की सलाह दी जाती है। विभक्त करके नेति-नेति मार्ग से वस्तु को पाने में कुछ मदद मिलती हो तो ले लो, पर प्राप्यवस्तु तो स्वयं में अविभक्त ही है। इसलिए साहित्य के क्षेत्र में विभक्तिकरण द्वारा पाया जाने वाला रस-बोध नितान्त विश्वसनीय नहीं माना जा सकता।

कवि की कविता से लोग अपने नाना प्रयोजन साधते हैं। कोई रस लेते हैं, तो दूसरे ज्ञान और नीति लेते हैं। वस्त्र के एक थान में से अपने-अपने मन के मुताबिक लोग कपड़े बनवा सकते हैं। उन छँटे-मिले कपड़ों के तर्ज के लिए श्रेय वस्त्र के बुनकर को देना असंगत है। उसी प्रकार ज्ञान, या नीति, या सुधार का प्रयोजन किसी काव्य से हम साध लेते हों, तो उसका श्रेय हमें ही है। अपने प्रयोजन की माप में नापकर हम कवि को नहीं समझेंगे।

शुक्लजी ने कुछ इसी तरह की भूलों की हैं। तुलसी को, जो भीतर तक तक भीगे निपट भक्त थे, शुक्लजी ने नाना बनाव में देख-दिखा डाला है। उनको विद्वान् माना, नीतिदाता माना; समाज-सुधारक, लोक-संग्रहक, लोक-नेता माना। मैं कहना चाहता हूँ कि यह कृपा आलोचक की अकृपा है। समझदार आदमी कवि को अपनी समझदारी की नाप-काट में देखने को लाचार हो, पर कवि-कर्म ठीक-ठाक समझदारी का काम नहीं है, वह तो प्रीति के आवेग द्वारा सम्भव होता है। इस तरह मेरी प्रतीति है कि शुक्लजी ने जिस रूप में तुलसीदास को ग्रहण किया, वह तुलसीदास का आन्तरिक स्वरूप नहीं, आरोपित स्वरूप ही है। अर्थात् कवि की आन्तरिकता को शुक्लजी अपने अन्तर में लेने से पहिले बाहरी लाभ लेकर ही बम मान रहे। उनका बल वस्तुवादी रहा, आत्म-लक्ष्य नहीं। इससे तुलसी के 'मानस'

के बहिरूप को प्रकाश-पाण्डित्य से वह बाँध सके, पर उनके अन्तरंग की भाँकी भी क्या उस घनिष्ठता से और दे सके ? ले सके होते तो व्यक्तिगत साधना वाले कहकर दूसरे सन्तों या भक्ति-भीगे कवियों (जैसे कबीरदास, सूरदास) से तुलसी का उन्हें विरोध नहीं, बल्कि सादृश्य ही दीखा होता । सच पूछिए तो परिचित अर्थ में लोक-धर्म-प्रतिष्ठाता पुरुषों से तुलसीदास की कोटि एकदम अलग है और वह सूरदास, यहाँ तक कि कबीरदास आदि की कोटि से लगभग अभिन्न हैं ।

पर शुक्लजी ने 'मानस' को, उसके मूलोद्गम में न जाकर उपयोगिता के धरातल पर अधिक परखा है और उसी दृष्टि में से उन्होंने तुलसीदास की अपनी धारणा खड़ी की है । धारणा वह विद्वज्जनोचित हो सकती है, पर भीतरी असलियत से खाली है ।

मुझे ऐसा मालूम होता है कि समाज-कर्मियों ने तुलसी के मानव में से अपने काम की बहुत-सी सुक्तियाँ पाईं । इससे जाना कि 'मानस' उन्हीं को देने के लिए तुलसीदास जी ने रचा था । पर यों तो कहा जा सकेगा कि हमारे चौकों को जल देने के लिए गङ्गाजी जनमी हैं । बहुताँ के बहुत कारज सिद्ध हुए, पर उन कार्यों की सिद्धि रचयिता की प्रवृत्ति-प्रेरणा न थी । 'मानस' तो तुलसी के व्यक्तित्व का निश्शेष आत्म-निवेदन है । तब समाज-नीति उसमें अपना निखरा रूप देखे तो अचरज नहीं ? पर कवि का दान नीतिदान नहीं, आत्मदान है । शुक्ल जी के तुलसीदास जाने क्या-क्या हैं, पर 'मानस' के तुलसी राम-चरण की शरण-गहे किङ्कर से अन्य कुछ नहीं हैं । कवि की इस आत्यन्तिक निरीहता को न पाकर उसकी सृष्टि के रूप-वैभव में हम अटक रहते हैं, तो यह तो वैसा ही है कि हम ईश्वर की इस रूपमयी माया को ही सब-कुछ मान बैठें और उसके भीतर के ऐक्य-भाव की खोज से विरत हो जायें ।

शुक्लजी निष्ठा से उतरकर तर्क को, सहारा मान कर चले हैं । इसी से काव्य में अवगाहन करते हुए काव्य में ही रह गए हैं, कवि तक नहीं पहुँच सके हैं । तुलसी को उन्होंने बहुत-कुछ अपनी तस्वीर में देखा है,

उनके 'मानस' के बिम्ब में नहीं। इसी कारण व्यक्ति-साधना और लोक-धर्म में भक्त्युपासना और लोक-व्यवहार में विरोध देखने को उन्हें लाचार होना पड़ा है।

भारतीय-समाज ने तुलसी से जो पाया है, वह तो भारतीय-समाज जितना पा सका उतना ही है। अर्थात् तुलसी ने वह नहीं दिया है, क्योंकि तुलसी ने कुछ भी देने का दम्भ नहीं किया है। उन्होंने तो अपने को ही सब-का-सब राम-चरणों में विनत और गीत भाव से बहा दिया है। अब उसमें से जो पाए सो ले, और तुलसी को धन्यवाद भी न दे। कारण, जिसने अशेष भावेन आत्म-दान किया है, उसे प्रयोजन-दान देने का श्रेय देना अकृतज्ञता ही होगी।

भावार्थ : कवि-कर्म, जैसा शुक्लजी ने समझा, वैसा नीति-दान की, सुधार-प्रेरणा या लोक-संग्रह की आकांक्षा के सहारे होने वाला कर्म नहीं है। वह कोई बुद्धि-व्यापार नहीं है। वह तो प्रीत्यावेग की लाचारी में हुआ आत्म-निवेदन है। शुक्लजी ने अपनी उदारता और प्रगाढ़ विद्या में से इतना कुछ श्रेय तुलसी को दिया है, तुलसी होते तो लाज में गड़ जाते। कहते कि सुभे छोड़कर हे मेरे आलोचक भाई, राम-नाम का स्मरण करो, क्योंकि राम की प्रीति का एक कन तुम्हारी नीति के कई मन से भारी है।

: ६ :

मेरी लाचारी मैं ही जानता हूँ। अपने से बाहर सुभे अवलम्ब नहीं। इससे मेरे पास शङ्का है, पर निर्णय नहीं। इसलिए मैंने अपने विद्वान् मित्र से पूछा—

“आप कहते हैं शुक्लजी की कविता प्रथम श्रेणी की नहीं। तो इसका कारण ?”

बोले—“कारण क्या ? यही कि कविता में उन्हें उतनी गति न थी।”

“यानी, उनमें वह तत्त्व न था जिससे कविता प्रथम श्रेणी की होती।”

बोले—“क्या यह जरूरी है कि कवि गणितज्ञ भी हो ? ऐसे ही

आलोचक अकवि हो सकता है।”

मैंने कहा, “तो तो सही। पर जो किञ्चित् अकवि है, उसमें तत्किञ्चित् उप तत्त्व को कमी मानी जा सकती है न कि जिनका प्रकाश कविता है?”

मित्र ने इस जगह मुझे मदद नहीं दी। मैंने कहा, “अगर मैं कहूँ कि प्राणों से प्रीति को स्फूर्ति जब शब्द में फूटती है तब वह कविता कहाती है, तो क्या आप महमत होंगे?”

बोले—“हाँ।”

मैंने कहा, “तो वैसी प्रीति की स्फूर्ति की अपेक्षा ही काव्य की श्रेष्ठता न्यूनाधिक कही जा सकती है कि नहीं?”

बोले - “हाँ।”

मैं—“यदि शुक्ल जी की कविता प्रथम श्रेणी की नहीं आप मानते, तो क्या कहने दोजिएगा कि स्फूर्ति भी कदाचित् प्रथम श्रेणी की न हो।

मित्र इस जगह बताने लगे कि अनमेल चीजों को मिलाना नहीं चाहिए। चाहिए कि आलोचना अलग, काव्य अलग, इत्यादि

कहना हुआ कि आलोचना और काव्य के अन्तर को मिटाने का प्रश्न नहीं। पर व्यक्ति तो अपने में एक है। या वहाँ भी खाने हैं? कविता वाले और आलोचना वाले शुक्ल जी बहस के लिए दो हों, पर क्या सत्य के लिए भी दो थे?

मित्र ने अप्रसन्नता से कहा कि मैं नाफ़ कहूँ कि मेरा मतलब क्या है! शुक्ल जी जैसा मर्मज्ञ न हिन्दी में हुआ, न शायद हो। पश्चिम के बड़े-से-बड़े समालोचक के साथ खड़े होकर वह ऊँचे दीख सकते हैं।

मैंने क्षमा माँगी। मैं अनजान। मैंने क्या सीखा है? बोला—“शुक्ल जी को पढ़ते मुझे थकान हो आई। मैं मान लूँ कि मैं अपात्र था। पर स्फूर्ति का लक्षण है कि वह उँधाए नहीं, जगाए। मैं जगता था, जगने का इच्छुक था, फिर भी ऊँच पड़ता था। मैं कहूँ कि वहाँ स्फूर्ति इतनी न रही होगी कि मुझे छूए, तो मुझ स्वार्थी को क्या इस दोषारोपण के लिए आप दोष देंगे?”

बोले—“ऊँची किताबें क्या सब पढ़ सकते हैं ?”

मैंने कहा—“ऊँचाई पर सबसे नहीं जिया जायगा । हवा वहाँ सूख्त होती है । पर कहीं तो बड़े-से-बड़े और छोटे-से-छोटे आदमी में भी समता है । वह समता मूल प्राणों की है, क्या यह आप मुझे मानने देंगे ?”

बोले—“हाँ ।”

मैंने कहा—“प्रतीत होता है कि उन्होंने बुद्धि की ऊँचाई पर से लिखा है, उतना प्राणों की स्फूर्ति में से नहीं लिखा । उनके लेखन में अनिवार्यता नहीं, प्रयास है । इसी से कोशिश भी उसमें नहीं है । क्या मैं यह नहीं चाह सकता कि रचना हो जो मुझे बरबस अपने साथ खींच ले जाय....”

मित्र ने मुझे बीच में टोका तो, पर सुनना भी चाहा । मैंने कहा—
“वह कशिश नहीं है तो मुझ पाठक को अवसर है कि उसके लाभ से वंचित बना रहूँ । मैं दीन हूँ, इससे कन्जूस हूँ । अपना लाभ खोना नहीं चाहता । इससे मेरी शिकायत सुनी जानी चाहिए । हिन्दी का परीक्षार्थी ही हिन्दी का पाठक नहीं है । जीवन की विषमताओं से जूझने वाला भी हिन्दी का पाठक है । वह क्या शुक्लजी को न पढ़े ? अपने-आप में तो वह खींचते नहीं । मुझे बताइए कि जिसमें प्रसाद नहीं, प्राण-स्पन्दन नहीं, प्रीति की खींच नहीं, उसकी ओर कोई किस स्वार्थ से खिंचे ? परीक्षार्थी परीक्षा में पास होने के लिए पढ़ता है । वह जीवन पोषक तत्त्व पाने के लिए थोड़े ही पढ़ता है । मुझे बताइए कि कोई जीवनाकांक्षा से या वैसी आवश्यकता से प्रेरित होकर उन किताबों को उठाए तो उनके फल तक पहुँच सकेगा ? मैं तो कर्तव्य-बुद्धि के सहारे ही उनके साथ बढ़ता जा सका । नहीं तो उन्हें छोड़ चलने को जी होता था ।

मित्र ने कहा, “कोई अभ्यास क्या मीठा होता है ? तबियत लगाने की बात है, तो बाहर खेल-तमाशे हैं । तबियत लगाना है तो मेरे साथ शुक्ल जी की चर्चा लेकर ही क्यों बैठते हो ?”

मैंने कहा, “अब तो सहज-शिक्षा के, प्रसन्न-शिक्षा के, प्रयत्न चल

रहे हैं। साहित्य आनन्द द्वारा शिक्षा दे देने का साधन ही तो है। बड़ी-से-बड़ी वैज्ञानिक बातें खेल-खेल में सिखाई जा रही हैं। ऊँची बातें जब अपने-आप में ही दुर्लभ होती हैं, तब शैली के भ्रम से उन्हें और दुर्लभ बनाना अनुदारता ही न होगी? सच पूछो तो बड़ी बातों के मामले में तो प्रसादमयी शैली और भी अनिवार्य है।

मित्र ने निर्णय दिया, “शुक्लजी गम्भीर हैं। हल्की मनोवृत्ति से उनको नहीं पढ़ा जा सकता।”

मैंने कहा, “क्या साहित्य को स्कूली और डिमागी कसरत का काम माना जाय? क्या यह सच नहीं कि पढ़ी बात मस्तिष्क की राह हृदय में घुल-मिल जाय, इसका अंग बन जाय, तो वह सरस-भाव से सरस शब्दों में कही जा सकती है। जितना अधिक प्रयास उसके कहने में लगता है उतना ही शंका का कारण होता है कि वह अनुभूति में घुली हुई नहीं है।”

जो हो; मित्र इस राय को न छोड़ सके कि गम्भीर साहित्य का पात्र हर कोई नहीं हो सकता। मैं अपनी अपात्रता मानता हूँ। यह भी मान लेता हूँ कि हिन्दी के अधिकांश पाठकों की पात्रता अधिक होगी। फिर भी क्या ऊँचे साहित्य को हम-जैसों के लिए दुर्गम बनना होगा?

: ७ :

एक दूसरे मित्र से ठण्डो चर्चा के अनन्तर मैं इन परिणामों पर पहुँचा—

एक : शुक्ल जी ने सत्य को आत्म-समर्पण द्वारा नहीं, बल्कि बौद्धिक प्रयत्नवाद के द्वारा ग्रहण किया। परिणामस्वरूप त्याग की ज्योति और समन्वय की शक्ति उतनी उनमें नहीं जागी जितनी कि प्रतिपादन की प्रबलता और स्थिति-धर्म के समर्थन की वाग्मिता प्रकट हुई।

दो : वह स्थिति के प्रतिनिधि थे। गति के विपक्ष और स्थिति-पक्ष के योद्धा के रूप में वह खड़े हुए और जूमे। वह स्थिरासन थे।

तीन : व्यक्ति और समाज को उन्होंने अन्योन्याश्रय में नहीं, बल्कि

व्यक्ति को समाज के निमित्त समझा। परिणामतः उन्होंने समाज-नीति की कीमत काफी से अधिक और व्यक्तिगत साधन की कीमत काफी से कम आँकी।

चार : सत्य के उस रूप को उन्होंने स्वीकार भाव से नहीं; बल्कि निषेध भाव से देखा जो स्थिति में परिवर्तन लाकर अपने को सम्पन्न करता है। अर्थात् जीवन में प्रगति पक्ष की सत्यता को वह अंगीकार नहीं कर सके। यानी स्व-धर्म-निष्ठ से आगे वह निज-मत-वादी थे।

पाँच : पारिवारिक धर्म से आगे अब एक नागरिक धर्म की आवश्यकता है जिसमें व्यक्ति समूचे समाज के प्रति अपने को दायी अनुभव करे, और यह परिवार-धर्म की ही प्रशस्ति है। इसका स्वीकार उनके लेखों में नहीं मिलता। अर्थात् आधुनिक समाजवादी विचारों में जो सत्य है, उसे वह न अपना सके।

छह : उन्होंने इस अंश में वर्तमान का हित किया कि अपनी परम्परा से उसे बिछुड़ने न देने में अपनी शक्ति लगाई। अर्थात् साहित्य में अनुत्तर-दायी और उच्छृङ्खल तत्त्वों को उन्होंने उभरने से रोका।

सात : वर्तमान को भविष्य की ओर बढ़ने में उनसे प्रेरणा नहीं मिली सही, पर साहित्य में प्रतिगामी और हलकी प्रवृत्तियों को उन से अवरोध मिला।

आठ : प्रतिपादन और खण्डन-मण्डन की दृढ़ता उनमें पूर्वस्वीकृति अपने मतवाद में से आती थी। अतीत का विवेचन और व्याख्यान भी उन्होंने तदनुकूल किया।

नौ : अपने और साहित्य-तत्त्व के बीच उन्होंने एक प्रकार के बौद्धिक हेतुवाद का अन्तर रखा। अर्थात् अपने को साहित्यिक होते-होते बचाया और हठान् अपने को साहित्यालोचक बनाया। आलोचना में भी वह आलोचक थे, जबकि सर्जक हो सकते थे।

शरच्चन्द्र चट्टोपाध्याय

: १ :

शरच्चन्द्र चट्टोपाध्याय के देहान्त की खबर जब यहाँ के अँग्रेजी अखबार के एक कोने में पढ़ने को मिली, तब अनुभव हुआ कि कितने गम्भीर भाव से उस नाम ने मेरे भीतर जगह कर ली थी। मेरे अपने लिए वह सामान्य घटना न थी। इतनी असामान्य थी कि मैं सोचता रह गया कि किस भौंति यह सम्भव हुआ कि भारत का यह समाचारपत्र, चाहे फिर वह अँग्रेजी में ही छपता हो, ऐसे बेमन भाव से इस सूचना को ग्रहण करे। हमने शरद को क्यों नहीं समझा? क्यों यह बंगाल के ही ज़िम्मे रहा कि वह शरद को पाए, पाकर कृतार्थ हो और खोकर विकल हो जाय? सोचता हूँ, अगर ब्रिटिश नीति और ब्रिटिश भाषा की जगह भारत के पास अपनी राष्ट्र-नीति और अपनी राष्ट्रभाषा होती तो?

शरद का आविर्भाव एक विशिष्ट घटना थी। इससे उनके अभाव की घटना ऐतिहासिक ही हो जाती है। वह हमें बिना छुए नहीं रह सकती। जो हमारे जीवन में अधिक वास्तविक, अधिक सत्य है, वह अधिक अम्यन्तर भी है। उसी कारण वह परोक्ष है। शरद हमारे बीच उसी मार्मिक किन्तु परोक्ष तत्त्व के प्रतीक थे। प्रदर्शन से विमुख, लुब्धाकांक्षाओं से दूर, सहज-सामान्य मानवता की वह प्रतिमूर्ति थे। असाधारण इसीलिए कि वह अन्त तक साधारण बने रहे। स्पर्द्धापूर्वक दूसरों को लॉचकर स्वयं आगे और ऊँचे देखने की प्रवृत्ति उनमें मानी नीचे मुँह गाड़कर खो गई थी।

: ० :

शम्भुचन्द्र का नाम मैंने जीवन में जल्दी नहीं जाना । किताबें पढ़ी थीं, और पढ़कर मन हिल-हिल गया था । उनकी कोई कहानी शायद ही बिना रुलाए रही हो । पर किताब के द्वारा स्वयं लेखक को पढ़ने की बात बहुत पीछे जाकर सूझी । कहानियाँ और उपन्यासों में घटनावली ही तो मुख्य है, तो उस घटनावली तक ही पाठक की हैसियत से मेरा सम्बन्ध रहता था । तब उस पुस्तक के लेखक का नाम तक मानो अनावश्यक था ।

‘मँझली दीदी’, ‘बड़ी दीदी’, ‘परिणीता’, ‘पंडितजी’, ‘चन्द्रनाथ’, ‘विजया’ आदि मनकी इसी स्थिति में मैंने पढ़ीं । पढ़कर शरद की मँझली और बड़ी दीदियां ठीक-ठीक मानो वैसी ही दीदियाँ मेरी भी बन आई थीं । शरद के पंडित जी, चन्द्रनाथ, विजया एवं अन्य पात्र मेरे मनमें निकट बहुत घनिष्ठ और प्रत्यक्ष बन-बन जाते थे । उनके दुख के साथ मेरे मन में गेना उठता था । जी में अकुलाहट होती थी कि हाय, इन (पात्रों) पर पढ़ने आली विपत्ता कैसे हो कि सब-की-सब स्वयं मैं भेल लूँ । सहानुभूति ऐसी उमड़कर उठती थी ।

इतना था, पर शरद बाबू से मैं अनजान था । सृष्टि को देखता था, उसमें मुग्ध भी था; पर खड़ा को मानों अनावश्यक ही बनाए हुए था । मेरी वैसी भारी मूर्खता !

इस मूर्खता का पार बहुत दिन बाद पाया । यह तमाम सृष्टि जिस खड़ा को व्यक्त करती है, उसको चिन्तना-फलपना में न लाऊँ तो सृष्टि को ही कैसे उपलब्ध कर सकता हूँ । इस सबका स्रोत जहाँ है, समन्वय जहाँ है, वहाँ क्या पीड़ा, क्या विछोड़ है, क्या यह समझने का प्रयास मुझे नहीं करना चाहिए ?

अपने अभ्यन्तरादभ्यन्तर में से क्या कुछ डालकर शरद ने अपने पात्र-पात्रियों को ऐसा सजीव और प्रत्यक्ष और प्रेरणामय बनाकर हमारे सामने प्रस्तुत किया कि हम मानो अत्यन्त कृतार्थ भाव से अपना जी उन (पात्र-पात्रियों) की मुट्ठी में दे बैठें ? हमारे मन की बद्धमूल परुषता में, अहंकार

जड़ित हमारे नाना नकार-निषेधों में शरद के किम अतर्क्य बल की टेस लगी कि वे गलकर बहने को हो गए और मग्न कातर हो आया ? किस भौंति यह हो सका, जानना कठिन है । पर इनके अतिरिक्त जानना ही और क्या है ।

सपने सभी लेते हैं । वे मनोरथ से मनोरम हैं, क्योंकि वे स्वप्न हैं । उनमें रान्यता नहीं, यथार्थता नहीं । वे इतने सूक्ष्म हैं कि स्थूल के स्पर्श पर छू हो जाते हैं । इससे 'वे हैं', यह भी भूट हो जाता है । हमारा स्वप्न हमारे पास ही भूट है । हम जगे नहीं कि वह उड़ जाता है । अपने ही सपने को पकड़ना कितना कठिन है । वह याद तक में नहीं बँधता ।

और स्वप्न क्या हैं ? क्या वे हमारी ही अतृप्तियों के रूपक नहीं हैं ? आकांक्षाओं के छोर नहीं हैं ?

अपने भीतर निरन्तर वर्तमान उन स्वप्निल भावनाओं को अपने ही समक्ष प्रत्यक्ष पाना कितना दुस्साध्य है । सम्भव तो है, पर कितनी असम्भवता के साथ सम्भव । उनके बाद उन्हीं स्वप्नोपम भावनाओं को अपने से अन्य किसी के मन के भीतर उपलब्ध करा देना कितना दुस्साध्य होगा ? क्या यह काम कमो चतुराई के बस का हो सकता है ? केवलमात्र कौशल से हो सकता है ? लोग जो कहें, पर शरद ने यह काम किया, और इस खूबी से किया कि अचम्भा होता है । कह लो शरद को आर्टिस्ट; लेकिन तब आर्ट चतुरता नहीं है, वह आत्मदान है । शरद ने अपने भीतर के दुर्लभ को उपलब्ध करने की राह में उसे हमारे लिए भी यत्किंचित् सुलभ कर दिया । उन्होंने अपनी रचनाओं द्वारा जो चाहे पाया हो, पर हमने तो उनमें बहुत-कुछ अपना मर्म पाया । शरद ने अपने को देकर पाया है । जान पड़ता है उन्होंने अपने भीतर कुछ नहीं छोड़ा, बूँद-बूँद दे डाला है ।

यह आत्मग्न की लाचारी क्यों ? दुनिया में सब अपने-अपने को बटोरते दीखते हैं । तब यह व्यक्ति क्यों अपने जीवन में मानों दोनों ओर बत्ती लगाकर जलता रहा ? क्या इसलिए कि हमें प्रकाश देना चाहता था ? छद्म, यह कहना आग की जलन को मिटाए कहना है । मेरे पास एक ही उत्तर है । यह यह कि वह व्यक्ति महाप्राण था । महाप्राण पुरुष

अपने स्वभाव में यह दुर्भाग्य लाते हैं। दुनिया कहे उसे प्रतिभा, लेकिन वह भीतर तक कष्ट पीड़ा की बनी होती है।

तभी तो उनके पात्र चित्र नहीं हैं। चित्र में गति-परिवर्तन नहीं होता यानी रूप होता है, स्पन्दन नहीं होता, आत्मा नहीं होती। शरद की मूर्तियाँ इतनी आत्ममयी हैं कि उन पर हम-आप विवाद ही कर सकते हैं, अधिकार नहीं कर सकते। उनमें अपना जीवन, अपना स्वभाव है, इस कारण वे सब इतनी अदृढ़ हैं कि कोई द्रो व्यक्ति उन पर एक राय नहीं रख सकते। शरद ने जो-कुछ उनके द्वारा करा दिया है, उससे आगे और उसके अतिरिक्त मानो कोई उन मूर्तियों से कुछ नहीं करा सकता। पुस्तकगत स्थिति से भिन्न परिस्थिति में वे पात्र-पात्रियाँ क्या करतीं, लाख विवेचन पर भी मानो कोई निश्चित निश्चय नहीं हो सकता है।

वे पात्र सजीव हैं, इससे नियम-निर्मित नहीं हैं। उनकी सृष्टि का सार शरद की अपनी आत्मा में ही है। आत्मा देशकालातीत होती है। वह भाषा की परिभाषा में नहीं आती, नहीं आयगी। जीवन बेहिसाब है, क्योंकि उसका उस स्रोत से उद्गम है, जहाँ से अनुमति लेकर स्वयं काल चलता है। शरद के चरित्र उसीसे अनुप्राणित हैं। इससे उन पर कभी विवाद की समाप्ति नहीं हो सकती। मानो उनका भेद उन्हीं के भीतर बन्द है। भीतर से ही वह मिले-तो-मिले, बाहर से वह समझ की पकड़ में न आयेगा। शरद ने अपने में से कुछ इतने गहरे की वस्तु उनमें डाली है कि उसे जाना नहीं जा सकता, अनुभूत ही किया जा सकता है। मेरे विचार में स्वयं शरद ने अपने पात्रों को जानने की स्पृहा नहीं की। शरद का नाता उनसे प्रेम का नाता था। प्रेम, यानी उत्तरोत्तर अभिन्नता। विज्ञान का नाता नहीं, जिसकी शर्त है द्वित्व और पार्थक्य।

इस सिलसिले में क्या मैं कहूँ कि रवि ठाकुर और अधिकांश अन्य पाश्चात्य लेखकों का अपने पात्रों के साथ सम्बन्ध इतने विशुद्ध प्रेम अर्थात् ऐक्य का नहीं होता। बीच में कहीं मानो विज्ञान को आ धुसने के लिए दुराध भी होता है। आधुनिक भाषा में कहें तो वे अपने पात्रों के प्रति,

और जगत् के प्रति प्रेमी से अधिक धीमान् (Intellectual) हैं।

: ३ :

ठीक सन सुभे याद नहीं। शायद १३१ की बात है। श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार संसार की सर्वश्रेष्ठ कहानियों की एक पुस्तक हिन्दी में छपा रहे थे। भारतीय कलाकारों की बात करते हुए बोले—“भारत की ओर से इस संग्रह में मैं दो कहानियाँ देना चाहता हूँ। क्या राय है?”

मैंने पूछा—“आप क्या सोचते हैं?”

बोले—“शरद को मैं भारत का सर्वश्रेष्ठ कहानी-लेखक मानता हूँ। रवीन्द्रनाथ की कहानी तो जायगी ही। उनकी कहानी क्या एक-एक नगीना हैं। पर शरद की कहानी कोई छोटी नहीं मिल रही है।”

मैंने कहा—“हिन्दी की पुस्तक में प्रेमचन्द की अनुपस्थिति निमेषी?”

बोले—“लेकिन, भाई, प्रेमचन्द शरद-रवीन्द्र के बाद आते हैं। क्यों, नहीं?”

आखिर पुस्तक में प्रेमचन्द की कहानी दी गई और शरतचन्द्र की नहीं दी जा सकी। इस पर चन्द्रगुप्तजी का मन खिन्न था। पर शरद की छोटी कहानी भी दुर्लभ हो रही थी।

बोले—“शरद को मैं निश्चित रूप में भारत का सर्वश्रेष्ठ कहानीकार मानता हूँ। जानता हूँ, मैं वह बात दोहरा रहा हूँ। पर बार-बार उसको कहकर मानो फिर कहने की इच्छा रहती है। रवीन्द्र की और बात है। साहित्यकार शरद से कहीं बड़े वह हों और हैं; पर कहानी की जहाँ चर्चा हो, वहाँ शरद शरद हैं। क्यों, क्या नहीं?”

मैंने तब कहा था (कहा था, अब नहीं कहता) कि मुझमें वैसी श्रद्धा नहीं है। शरद, हाँ अच्छा लिखते हैं। पर जान पड़ता है, कहीं से कोई लटका उन्हें हाथ लग गया है। एक गुर पा गए हैं, बस उसी को हर जगह इस्तेमाल कर जाते हैं। देखिए न, हर कहानी में धूम-फिरकर वही बात, वही बात।

श्री चन्द्रगुप्त सुनकर मेरी ओर देखते-के-देखते रह गए थे। मानो मेरी धृष्टता सह्य हो सकी तो इसी से कि वेहृद् अप्रत्याशित थी। उस समय तो जैसे क्रोध भी उनसे न करते बना।

मैंने कहा—“सुनिए, शरद एक काम लाजवाब खूबी से करते हैं। वह खूबी है, और वेशक लाजवाब है। लेकिन लाजवाब हो चाहे कुछ हो, बस वह अकेली खूबी ही उनके पास है। स्त्री और पुरुष के प्रणय और मान के सम्बन्धों का जो चित्र वह खींचकर रख देते हैं, क्या वह चित्रण कहीं और भी मिलेगा? लेकिन दुनिया स्त्री-पुरुष प्रेम नहीं है। वह और भी बहुत-कुछ है। सो समूचे जीवन पर उनकी पकड़ साधिकार नहीं है। असल में जीवन-दर्शन उनका एकांगी है। कहता तो हूँ कि कहीं से गुह-मन्त्र पा गए हैं। उसी के बल पर चमत्कार-सा दिखा देते हैं।”

चन्द्रगुप्तजी ने मुझे तरह-तरह से समझाया—तर्क से भी, आग्रह से भी, झिड़की से भी। कहा कि कहानी-कला के बारे में ऐसी अहंकृत और उथली और भ्रान्त धारणा बनाकर चलना अपने हक में मेरे लिए अशुभ होगा। लेकिन मैं न मान सका। कहता रहा कि शरद की खूबी आकस्मिक है, गहरी नहीं है; शरद में रमी हुई नहीं है। एक प्रकार का रचना-कौशल है, अधिक नहीं है।

मैं नहीं जानता अगर ऐसा मानने वाले और लोग हों। लेकिन मैं यह जानता हूँ कि आज मैं ऐसा नहीं मानता हूँ। आज अचरज करता हूँ कि वह सब मैं किस भोंति कह गया हूँगा।

इस परिवर्तन का कारण है। कारण यह कि दो (अथवा अधिक) व्यक्तियों के परस्पर सम्बन्धों के विकास अथवा विचार में जो मूल-सिद्धान्त काम करता है, वही तो है सत्य। उसके अतिरिक्त ज्ञेय और नया है। क्या जो यह अनेकता की ओर दुई की माया चारों ओर फैली है, वह अपने-आप में जानने योग्य है? वैचित्र्य क्या अपने-आप में अर्थकारी है? अपने-अपने खानों में बँटा हुआ बर्गीकृत ज्ञान नया सच्चसुच मत्य है। वह सत्य हो कैसे सकता है। फिर तो सत्य विभक्त और खाँडित ठहरेगा। इससे उम

प्रकार के लौकिक ज्ञान का समग्र रूप में मूलाधार जहाँ है, गन्त भी वहीं है। और लौकिक ज्ञान हितकर है तो तभी जब यह उस परम तत्त्व को प्रकाशित और विशद करे, जहाँ अनेक का ऐक्य और समस्त का समग्र है।

व्यक्ति भन्न है कि पदार्थ ?

व्यक्ति सच्च है कि गमाज ?

एक व्यक्ति सच्च है कि दूसरा व्यक्ति ?

ये मूल प्रश्न जब सामने खड़े होते हैं तो जान पड़ता है कि सन्ध किमी दूसरे को छोड़कर किसी एक में नहीं है। यह कभी भी एक जगह नहीं है। पदार्थ में नहीं है, त्याक्त में नहीं है, गमाज में नहीं—यह एक-एक में नहीं है। वह अनेक के ऐक्य में है। वह भेद्य है।

अर्थात् जो भिन्ही दो को दूरी से पास करना है, और पास से दूरी पास करना चाहता है कि वे दो एक हो जायें; जो भिन्न इच्छा कि ज्ञान होता नहीं होता न हो; देता है;—जगत् में यदि कुछ सातत्य है, तो गही तत्त्व ज्ञातव्य है। यह है प्रेम। लिखने-पढ़ने द्वारा अथवा व्यवसाय-नपस्था द्वारा यदि कुछ भी है, खोजना है, जानना है, पाना है, तो यह नहीं प्रेम है।

जब न यदि लोट-लोटेकर अपनी गन्ताओं में मानव- (स्त्री-पुरुष) प्रतीति चर्चा का, तथा की व्याख्या की, तो गमाज-हित की दृष्टि में, तो एक ही गिमत में, इससे और अधिक कर्णार्थ नर्तन दूसरा हो काय गमता है। अन्य तादृश गति सम्भवा है। बाद और फिर दूरा में चला जाता है, चला रहने की है। लेकिन उरों मानव व्यर्थता गृहा है, सिद्धि यथार्थता भी नहीं है। अनेक ही दूरी-नगरी चलाने की है, लड़ाई चल सकती है, मानव-हित-गमन उसी परामर्श है। प्रेम का योग यदि नष्ट, तो नास्तिकता पड़ता है और गमन है।

इसलिए शरद्वन्द्व न अगाधव्यक्त को छोड़कर आवश्यक हो पकड़ा, जब कि उन्होंने राजकीय एवं समाजनीति, देशोद्धार अथवा समाजोद्धार की चर्चा की। स्त्री-पुरुष के मध्य प्रियाध स्त्री वेदना जितनी सान और रहस्य

रूप से शरद चित्रित कर सके हैं, मैं मानता हूँ, उतने ही अंश में वह अपने को ज्ञानी प्रमाणित कर सके हैं। पड़दर्शनों का पण्डित कैसा दार्शनिक है, मैं नहीं जानता। पर शरद ऐसे दार्शनिक हैं, यह मैं कृतज्ञ भाव से स्वीकार करना चाहता हूँ। कलाकार का मैं और अर्थ नहीं जानता। कलाकार गतिशीलता में सत्य को ब्रम्हा है, पण्डित का सत्य निस्पन्द है।

ऊपर कहा गया कि समाज-हित की दृष्टि से जो सर्वाधिक आवश्यक है, वह शरद ने किया। समाज मानव-सम्बन्धों को लेकर बनता है। शरद ने उन सम्बन्धों के भीतर भावना की उष्णता और आर्द्रता पहुँचाई। समाज के भिन्न पदस्थ लोगों को (पुरुषों को, स्त्रियों को) उगने मानवता के पैमाने से नापा और नापना बताया। समाज में जो ऊँचा है, वह वहाँ ऊँचा हो अथवा नहीं भी हो। कौन कहाँ किस जगह को भर रहा है, यह तो बाह्य परिस्थितियों पर अवलम्बित हो सकता है। मुख्य प्रश्न यह है कि वह वहाँ अपने स्वधर्म के मध्य कैसे वर्तन करता है। शरद ने इसी भीतरी दृष्टि (कोण) से मानव-समाज को देखा और दिखाया। इस व्यापार में जितने सहासुभूति-पूर्ण और सहज-साम्य के साथ शरद ने कर्तव्य-पालन किया, उतना कम देखने में आता है। रवि ठाकुर तक में पक्ष-समर्थन है। प्रेमचन्द में तो वह खूब उभार में है। इधर रूसी विचार से प्रभावित साहित्य में वह बेहद उग्रता से है। शरद की सहासुभूति व्यापक है, यह कथन इस कारण यथेष्ट नहीं है, क्योंकि वह सब कहीं एक-सी गहरी भी है। धीमान (intellectual) की सहासुभूति और भी व्यापक हो सकती है, पर उसमें क्या अनुभूति की गहराई भी होती है? शरद में विस्तार कम है, तो घनता उस कमी को पूरा कर देती है। तात्त्विक गहनता उतनी नहीं है, तब प्रसाद सविशिष्ट है। उनकी रचनाओं में कहना कठिन हो जाता है कि कौन शरद को विशेष प्रिय है, कौन नायक है, कौन प्रतिनायक, कौन खल। जान पड़ता है, जैसे सब उस स्वयं हैं।

पर व्यक्ति की विशेषता ही उसकी मर्यादा भी होती है। शरद समाज-हित की दृष्टि से बेहद प्रभावक और उपादेय हैं (उनकी लोकप्रियता देखिए!)

तब आत्म-हित की दृष्टि उस साहित्य में विशेष नहीं है। शरद में व्यक्ति और समाज सदा परस्पर सम्मुख रहे हैं। व्यक्ति और विराट्, व्यक्ति और समष्टि का सामुख्य वहाँ नहीं के तुल्य है। उनकी नायिका बँगाली-नारी-समाज की जैसी सदस्य हैं, क्या वैसी ही मानव-नारी-समाज की भी है? शायद नहीं। उनसे आगे बढ़कर क्या कोई ऐसी भी है, जो नर-नारी के भेद से (मानसिक स्तर पर) ऊँची हो जाती है? नहीं, ऐसा तो बिल्कुल नहीं। कोई पुरुष-पात्र नहीं है, जिसके लिए मध्य बिन्दु कोई सदेह नारी न हो, कुल और हो। और कोई नारी नहीं है, जिसने देह-धारी पुरुष को लौंघकर इसी भाँति किसी एक संकल्प को समर्पण अथवा वरण किया हो।

जहाँ प्रश्न उस तल तक उठता है, वहाँ भारत में हमारी आँख बरबस रवीन्द्र की ओर उठ जाती है। रवीन्द्र के पात्र समाज के हेतु से नहीं, बल्कि मानो अपने भीतर से ही, मानो समूची प्रकृति के ही साथ द्वन्द्व-ग्रस्त है और जैसे अपनी ही गँठ को खोलना चाह रहे हैं।

हसीसे शरद जब कि हमारे जी को मथ डालते हैं, तब क्या वह हमें विराट् की ओर भी उद्बुद्ध करते हैं? स्तूपाकार महदादर्श पात्र शरद नहीं खड़े करते। वह symbolic नहीं हैं।

लेकिन क्या हम इसे शरद की त्रुटि कहकर छुट्टी पाएँ? मानव और मानव के प्रेम की, उनके सम्बन्धों की समस्या को शरद ने इतना अपना लिया कि व्यक्ति और विराट् का प्रश्न पीछे रह गया, तो क्यों इसके लिए हम सामाजिक व्यक्ति की हैसियत से उनके और अधिक कृतज्ञ नहीं हो सकते?

: ४ :

एक मित्र के साथ की बातचीत भूलती नहीं है। भूल जाती, अगर मैं मित्र को मामूली मान सकता। विचार और परख के आदमी थे और लबी-यत के साक्षर। कलकत्ते रहते थे। मैं साधारणतया शरच्चन्द्र के बारे में जिज्ञासा से भरा रहता था। जानकारी जो मिले उसी को संग्रह कर लेना चाहता था।

मैंने कहा—“सुना है, शरद बाबू यही कलकत्ते में किसी जगह है। आप जानते हैं?”

बोले—“शरद नावलिरट न ? हाँ, रहते हैं। जगह बिल्कुल ठीक तो नहीं जानना। कुछ काम है?”

मैंने कहा—“काम तो क्या, गो ही पूछा। कभी मिलने को जी हो आता है।”

बोले—“जिसे मिलना चाहते हो, उसे जानते भी हो? मैं तो मिलने की सलाह न दूँगा।”

पूछा—“क्यों?”

बोले—“आदमी कुछ—गो ही है। तरीके का आदमी नहीं है। संस्कारिता उसमें नहीं दीवती।”

पूछा—“आप उनसे मिलें हैं?”

बोले—“मिला नहीं, देखा है। या इतिहास काफी कुछ जानता हूँ। असल में उस व्यक्ति को मन्मत्त सोमागटी मिली भी तो नहीं। और जब मिली, तब शरद पर फट्टे हो गये।”

सुनकर मैं अचानक से पड़ गया। आगता चाहा कि ऐसी अग्रदत्ता के स्वरूप लक्षण उन्होंने क्या-क्या पाए हैं। और फिर दीगने वाली मद्रता का संदिग्ध प्रस्तु भी नहीं हो सकती। कपटे रंग के न हो तो क्या मन मापा नहीं रह सकता।

मित्र ने ब्रान सुर्ग-प्रगल्भी का भी आवाज आने लगे कि अभी, वह शस्त्र शरण इतनी पीता है कि तोचह !

मैंने पूछा—“तो ? इन्ना-गिना दो छोड़कर योग-आपाप में मन्मत्त शरण पाते हैं, तो क्या वह कहना होगा कि सा आक्षेप है। आप इतनी तुरी चीज है?”

बोले—“आप भी पढ़ें हैं। समीप में है।”

मैंने कहा—“शरद तो कहाँ से होंगे। क्योंकि सा ऐसी शरद में ही हो जावेंगे, तो बाकी हम-आपाप में। आप क्या-क्या ? पर प्रती है, उन्होंने शादी

नहीं की।”

मित्र सुनकर हँस दिए। वह हँसी जी का नहीं, व्यंग्य थी, बोले—
“शादी बन्धन जो है।”

मुझे यह बात रुची नहीं। चाहा कि बात व्यंग्य से नहीं, सफाई से हो।

बोले—“साफ़ मुझसे न कहलाओ। फिर एक किस्सा नहीं है। कहूँ भी तो क्या-क्या ? और तुम न सुनो तो अच्छा।”

कुछ रुककर मैंने पूछा—“आपने उनकी रचनाएँ पढ़ी हैं।”

बोले—“कुछ पढ़ी हैं। लिखता अच्छा है। लेकिन उससे क्या ?”

मैंने कहा—“मुझे नहीं मालूम होता कि लिखकर दूसरे के मन को प्रभावित करना इतना आसान काम है और वह काम बुरे मन और मैली तबीयत से हो सकता है।”

बोले—“अभी दुनिया और देखो। लिखना-लिखना है, इन्सानियत और चीज है।”

मैं उन मित्र की शरद के प्रति ऐसी अप्रिय भावनाओं का भेद अब भी नहीं जानता हूँ। शरद से उनका वैर नहीं। फिर उन भावनाओं में ऐसी हीनता, ऐसी परुपता क्यों थी ? प्रतीत होता है कि ऐसे मामलों में स्व-रति ही पर-वैर जितना काम दे जाती है। वह मित्र अपने रम्यन्ध में इतने आश्वस्त थे कि जैसे आत्म-निरीक्षण और आत्म-ग्लानि की उन्हें आवश्यकता ही न हो। इससे जिस आसानी से अपने को सही मानते थे, उसी आसानी से दूसरे को ग़लत मान सकते थे।

उन्होंने जानना चाहा कि आखिर शरद को जानने की मैं क्यों इतनी उत्कण्ठा रखता हूँ। कुछ दिलचस्प कहानियाँ लिख दी हैं, इसीलिए ?

मैंने कहा—“हाँ।”

बोले—“कहानी तो मनगढ़न्त कल्पना होती है। जो अच्छी कहानी लिखता है, वह अच्छा झूठ बोलता है, यही तो मतलब हुआ !”

मैंने कहा—“यह भी सही। लेकिन क्या इतनी तसल्ली कम है कि बुरा

भूट नहीं बोलता ? और जो अच्छा है, वह सच ही होता है। भूट भी कभी अच्छा हुआ है ?”

बोले—“चलो, तर्क छोड़ो। लेकिन उस शस्त्र से आखिर चाहते क्या हो ?”

कहा—“प्रणाम निवेदन करना चाहता हूँ। मैं उनका कृतज्ञ हूँ।”

वह मेरी इस भावना को नहीं समझ सके। मैं भी क्या समझ सकता था। निश्चय जाना, यह अन्त में भावनाओं का ही प्रश्न है। ‘जाकी रही भावना जैसी’। क्योंकि इसके बाद उन्होंने शरद बाबू के सम्बन्ध में जाने क्या-क्या बातें न सुनाईं। वे यहाँ लिखी नहीं जा सकतीं। उन्हें ज्यों-का-त्यों माना जाय तो शरद इतने काले बनेंगे, जितना कोयला। मैं सब सुनता रहा।

बोले—“अब भी उसके लिए तुम्हारा आदर कायम है ?”

मैंने कहा—“सच कहूँ तो विस्मय कुछ बढ़ गया है। और आदर भी बढ़ गया है। जो शरद इतना मैला है और फिर भी अपनी रचनाओं से इतनी सुनहरी और विविध रंग की आभा बिखेर सकता है, तो इससे मेरे मन को यही मालूम होता है कि वह और भी जानने योग्य है, और भी गहन है।”

बोले—“तुम मेरा विश्वास नहीं करते ?”

मैंने कहा—“इसीलिए नहीं करता कि मैं शरद को देवता नहीं समझना चाहता। उनकी रचनाओं में जो है, उस रचनाकार को सच मानूँ, और आपकी बातों में जो शरद दीखता है, उसे भी विश्वसनीय मान लूँ, तो शरद मानवोत्तर, लोकोत्तर हो जाते हैं, एकदम विस्मय पुरुष।”

नहीं जानता कि भिन्न लोगों की भिन्न, यहाँ तक कि प्रतिकूल, धारणाओं का मेल कैसे बैठाय़ा जावे। सच यह है कि सत्य अनन्त है। और भूट बस अहंकार ही है, जिसका शरद में इतना अत्यन्तभाव है कि मन होता है कि कहूँ कि शरद धार्मिक पुरुष थे। उनकी रचनाएँ लगभग धर्मग्रन्थ ही हैं।

अचरब है कि जिस रचना की सहायता से मेरे मन में प्रीति का आवेग

भर उठता है, उसी रचना के कारण दूसरे व्यक्ति को शरद दानव किस भाँति प्रतीत हो आते हैं। देखता हूँ कि मेरी कृतशता और श्रद्धा उनके प्रति जितनी आड़िग है, उस ओर की अश्रद्धा भी उतनी ही कट्टर है। पर वह जो हों और व्यक्तियों की मतियाँ जितनी भिन्न हों, यह पक्का निश्चय है कि जो शक्ति बिना किसी अयुष के कागज पर छपे शब्दों द्वारा किसी एक के भी जी को हिलाकर उसमें-से उल्लुवास और आँसू निकलवा सकती है, वह शक्ति दानवी नहीं है। नहीं, दानवी वह कभी नहीं है।

: ५ :

दर्शनशास्त्र के एक बंगाली प्रोफेसर से, जो अब चौथेपन में हैं और अवकाश-प्राप्त हैं, मिलने पर अक्सर कला और धर्म की चर्चा चल निकला करती है। कहने लगे—“कला और पैसा, ये दो हैं। एक-दूसरे पर नहीं टिक सकते। कला को व्यवसाय बनाना गलत है। लेकिन जीना तो कलाकार को भी पड़ता है न। जीने में पैसा लगता है। और आज दुनिया की यह हालत है कि पैसा पाने के लिए छीन-भ्रष्ट की वृत्ति चाहिए। राजनीति का बोलबाला है और पैसा मुद्रा-नीति के ताबे है। इससे कला का व्यभिचार होता है। व्यभिचार व्यभिचार हो, पर उससे टके सीधे होते हैं। इससे टके की दुनिया में व्यभिचार आर्ट क्यों न हो जाय। इससे आज दिन ‘आर्टिस्ट’ के आर्ट की जरूरत नहीं है, ‘आर्टिज़न’ वाला आर्ट चाहिए। इससे आर्ट का सत्यानाश हो जायगा, माना पर रोटी तो मिलेगी...”

बाबा (उनको हम यही कहते हैं) बोलते कम हैं, बोल पड़ते हैं तो रुकना सहल नहीं रहता। और इस आर्ट और व्यवसाय के विरोध के बारे में जैसे उनके भीतर कहीं धाव है। टेस लगी नहीं कि फिर व्यथा ही बहों से निकल पड़ती है।

मैंने कहा—“सुनिष्ट। आप शरद को जानते हैं?”

बोले—“बंगाली हूँ, शरद को न जानूँगा? हाँ, तुम क्या समझते हो। शरद पैसे को मिट्टी भी नहीं, मैल समझता था। कुरता-घोती से आगे उसने

कपड़ा नहीं जाना। धन आया, पर मन पर क्या उराकी लड़ाया भी आ सकी !”

इसके बाद स्वदेश और विदेश और आदिकाल और आधुनिक-काल के कलाविदों की चर्चा उन्होंने छेड़ी कि...

मैंने कहा—“आप निकट से उन्हें जानते हैं न ?”

बोले—“हमारा एक क्लास-फेलो शरद का बहुत घनिष्ठ मित्र रहा है।”

मैंने कहा—“मित्र ? तो शरद मित्रहीन नहीं थे, जैसे कि वह पत्नी-हीन थे।”

बोले—“ओः, मित्र से वह बात नहीं। He was a solitary soul that way (उस दृष्टि से वे एकाकी थे)।”

मैंने पूछा—“निकट के रिश्तेदार हैं ?”

बोले—“रिश्तेदार होंगे। शायद हैं। पर मेरा विश्वास है शरद के अपने चक्कर में कोई नहीं है। या कहो किसी के चक्कर में वह स्वयं नहीं हैं।”

मैंने पूछा—“शादी—?”

“एक बरमीज कोई थी। फिर वह भी नहीं थी।”

“नहीं रहीं ! यानी —”

“नहीं-नहीं। सुना, उन्हें फिर खुद बरमा भेज दिया।”

वह व्यक्ति जिगने पत्नी-रूप मैं नारी को कभी नहीं पाया—प्रतिभा पाई, ६२ वर्ष की वय पाई, स्नेह से लालच-भरी आत्मा पाई, फिर भी नारी को जिनसे पत्नी नहीं पाया—ठीक उसी व्यक्ति ने ही हृदय को जितना स्पन्दन शील और सम्पूर्ण भाव से चित्रित किया, वैसा क्या कोई गृहस्थी कर सका ? नहीं कर सका। इसी से मैं इस विरागी, फिर भी संरागी प्राणी के प्रति उत्कण्ठित जिज्ञासा से भर-भर आया।

देवदास पार्वती की असल जगाए रहा। लेकिन जब विवाहित पार्वती रात्रि के एकान्त में सम्पूर्ण-भाव से उसके प्रति अपना आत्मार्पण निवेदन कर उठी, तब निविड़ अधमाचार से घिरे देवदास ने क्या किया ? क्या

पार्वती को लिया ? नहीं, लिखा नहीं। मूर्ति की भाँति उसे अपने से दूर ही रखा। मूर्ति की भक्ति उसने अपने लिए चाही; मूर्ति पाने की सपना नहीं की।

क्यों ?

मालूम होता है, शरद स्वयं उसके जवाब हैं। और नहीं तो नारी-हृदय के प्रभु शरच्चन्द्र के निर-एलाकी रहने का भेद हो क्या सकता है ? वह है तो प्रेम की प्रगाढ़ता ही है।

महादेवी वर्मा

प्रश्न—सुना है महादेवी जी नब्बे प्रतिशत हँसती हैं, बातें कम करती हैं।

उत्तर—बात तो कम नहीं करती, पर प्रतिशत हँसी के पक्ष में अधिक हो सकता है। यह भी कहा जा सकता है कि वह हँसी सर्वथा बात में से निकली हुई नहीं होती। कुछ असम्बद्ध भी होती है।

प्रश्न—क्या उनकी हँसी असम्बद्ध से अस्वाभाविक भी हो जाती है?

उत्तर—अस्वाभाविक महादेवी जी की ओर से नहीं कहा जा सकता। चर्चा के प्रसंग की ओर से भले ही अस्वाभाविक कह लिया जाय।

प्रश्न—महादेवी जी की हँसी में मनोवैज्ञानिक तथ्य क्या है?

उत्तर—मुझे लगता है, महादेवी जी अपने और दूसरे के बीच अन्तर बनाए रखना चाहती हैं। उसको सहज, फिर भी अनिवार्य बनाए रखने के लिए, बीच में यह हँसी डाल देने का उपाय है। इस तरह वह स्वयं किंचित् दुर्ज्ञेय बनती हैं।

प्रश्न—हँसी का तरीका उन्होंने क्यों अखितयार किया, उन्हें दुर्ज्ञेय बनने की प्रेरणा कैसे और क्यों होती है?

उत्तर—आपके प्रश्नों का पूरा उत्तर मुझसे कैसे मिल सकता है। दुर्ज्ञेय बनने की आवश्यकता स्वयं दुर्ज्ञेय नहीं होनी चाहिए। अपने को न खोलने की इच्छा हम सभी में है। एक स्त्री में सहज भाव से वह अधिक हो सकती है, कवयित्री में और भी अधिक; किन्तु महादेवी जी व्यवहार में शिष्ट

सहानुभूति से दूर नहीं जा सकती। दूसरा उनकी जगह होता तो अपने को गुम-सुम या गरिमाय बनाकर मुरझित कर लेता। महादेवी जी का शिष्टाचार उन्हें ऐसा नहीं करने दे सकता, वह उन्हें हार्दिक दिखलाना चाहता है। वह हार्दिकता उतनी सहज उनके लिए नहीं है। कारण वे पारदर्शी मन्त प्रवृत्ति की नहीं हैं। ऐसी हालत में खिलखिलाहट से भरी हँसी ही आवरण का एकमात्र उपाय रह जाता है। लगता है, इस हँसी में वह खुल रही हैं, पर वही उनको ढक रही होती है।

प्रश्न—महादेवी जी से आप सर्वप्रथम कब मिले थे ?

उत्तर—ठीक तिथि याद नहीं है, लेकिन पहली बार जब मिलना हुआ उसको अब से बीस वर्ष होते होंगे।

प्रश्न—परम्पर में क्या-क्या बातें हुई ? यदि कुछ याद हों तो बताने की कृपा करें।

उत्तर—बातें पूरी तो याद नहीं हैं। वे इलाहाबाद शहर में तब किसी कन्याशाला में थीं, उनकी कविता ने नया-नया लोगों का ध्यान खींचा था। मुझे याद है कि पाठशाला के बन्द दरवाजे पर मुझे कुछ देर रुकना पड़ा था। फिर कुछ देर अन्दर प्रतीक्षा में बैठना पड़ा। मालूम हुआ कि खबर दी गई है, नहा रही हैं, अभी आ रही हैं। वह 'अभी' मुझे कुछ समय अभी नहीं मालूम हुआ। काफी देर में वह आईं। जान पड़ता है वह देर मुझे रुचिकर न हुई थी। और आते ही इसी की भत्तलाहट मैंने उन पर उतारी। कहने की आवश्यकता नहीं कि वह भी भत्तलाहट के रूप में नहीं उतरी। मैंने कहा था कि देखिए, पहले आपने यह गलती की कि कविता लिखी, फिर यह कि छपने दी, तिस पर सबसे बड़ी गलती यह कि वह कविता अच्छी लिखी। किसी ने आपसे यह नहीं कहा था कि आप एक-पर-एक गलतियाँ करती चली जायें। यह आपका अपना काम था। कोई भी आपके साथ इसके टोप को ढँदा नहीं सकता। अब अपने कर्मफल से आप बच नहीं सकती। यानी अपनी कविता से आपने ध्यान खींचा है तो आप अपने को उस ध्यान से बचाने की अपात्र हो गईं। बात इसी ढंग से

गुरु होकर न जाने कहाँ-कहाँ घूमती-फिरती रही। जान पड़ता है उनका असमंजस और मेरा क्षोभ अधिक देर हमारे बीच ठहरा नहान। यही माहित्य-वाहित्य की कुछ गप-शप होती रही होगी।

जी, आप पूछना चाहती हैं कि वे हँसी थीं और कितनी बार हँसी थी। नहीं, उस समय एक बार भी उनके हँसने का स्मरण नहीं है। तब वे गुरुजी थीं भी तो नहीं। शायद विद्यार्थिनी थीं और एम. ए. आरम्भ नहीं तो बी. ए. अन्तिम की परीक्षा दे रही थीं।

प्रश्न—आप अभी हाल में भी महादेवी जी से मिले होंगे, तब के और अब के उनके व्यक्तित्व में क्या अन्तर पड़ा है ?

उत्तर—हाँ, मिला हूँ और मिलता ही रहता हूँ, अन्तर वही ठीक वीर वर्ष जितना पड़ा है। तब सलज्जा थीं, अब वात-चीत में दूसरे को लज्जित करती हैं। जीवन में तब प्रवेश कर रही थीं, और कहीं उभगा स्थान है और होगा, इसके बारे में हर धारणा से रीति और हर आशा से भरी थीं। अब सब घटित घटना है। न धारणा के लिए और न आशा ही के लिए स्थान है। इसलिए व्यवहार में अव्योधा नहीं रह गई है। सिद्ध दक्षता आ गई है। इत्यादि-इत्यादि कितना मुझसे कहलाइयेगा, खिलती वय से आरम्भ होकर उसके अन्तर वीर वर्ष का अनन्तर अपने-आप में समझ लेने की बात है।

प्रश्न—महादेवी जी की कविता का धरातल क्या है ?

उत्तर—देखिए, मैं अकवि हूँ, उनकी कविता का धरातल शायद बौद्धिक है या कहेँ बौद्धिक सहानुभूति है। शायद वह अनुभूति से किंचित भिन्न वस्तु है।

प्रश्न—महादेवी जी को कविता की प्रेरणा कहाँ से प्राप्त हुई ?

उत्तर—यह प्रश्न महादेवी से करने योग्य है।

प्रश्न—मेरे पूछने का तात्पर्य यह है कि महादेवी जी को कविता की प्रेरणा उनके जीवन की बाह्य-परिस्थितियों के कारण है अथवा उनकी प्रेरणा भीतरी साधना में निहित है ?

प्रश्न—‘She is pathetic, not tragic.’ क्या आप महादेवी जी के सम्बन्ध में इस धारणा से सहमत हैं ?

उत्तर—इन दो शब्दों में Contrast तीव्र है। Tragic गुण तो महादेवी के काव्य में मुझे कम ही मिलता है, पर pathetic उसे कह देकर भी मुझे छुट्टी नहीं मिलती। Pathetic विशेषण के नीचे मानो भाव की बहुत ही कच्ची धरती माननी होगी। उस काव्य में भाव की उतनी कच्ची भूमिका नहीं है, उससे अधिक तल्लीनता है। पर जैसा कि मैंने माना है, कविता में उनकी निजता झूबती नहीं है, बुद्धि की डोर से वह जैसे अलग थमी रहती है। इसी से द्रेजिक भाव उत्पन्न होने से वहाँ कुछ बच ही जाता है।

प्रश्न—महादेवी जी और मीरा की पीड़ा में क्या अन्तर है ?

उत्तर—उत्तर मुझे अनुमान से ही देना होगा। अनुमान खतरनाक भी होता है। महादेवी जी गेरे लिए समकालीन हैं, मीरा ऐतिहासिक। पर जहाँ तक सम्भव है, मैं व्यक्तित्वों पर से अनुमान नहीं लगाता। अनुमान काव्य से लगता है। महादेवी जी की पीड़ा चाह कर अपनाई हुई है, मीरा की अनिवार्य। मीरा अपने में विषय और अपनी पीड़ा से छुटकारा पाने के लिए विकल हैं। वे प्यासी हैं, इसलिए उनमें पानी की पुकार है। महादेवी प्यास को ही चाहती मालूम होती हैं, इससे अनुमान होता है कि प्यास को उन्होंने जाना नहीं है। घायल घाव नहीं चाहता। जो अभी घाव ही चाहता है, मालूम होता है उसकी गति घायल की है नहीं। महादेवी जी विरह और वियोग में रस अधिक ढूँढ़ती हैं। इसका अर्थ है, विकलता उतनी अनुभव नहीं करती। मीरा तो अपने गिरिधर गोपाल के पीछे सारी लाज लुटा बैठी हैं। महादेवी के लिए सामाजिक सम्भ्रान्तता उतनी नगण्य वस्तु नहीं है। कोई गिरिधारी उनके लिए इतना मूर्त और वास्तव नहीं बन सकता जो उन्हें उधर से असावधान कर दे। यानी अपने हृदय को वह विचार-रूप में ही ग्रहण कर सकती हैं, प्रत्यक्ष रूप में नहीं चाह सकती। प्रत्यक्ष होकर उसे शरीर तक मिलने की दुःसम्भावना हो

आती है। महिला-जनोचित उनके स्वभाव के लिए वह सर्वथा अमध्य है। इस तरह मीरा और महादेवी की पीड़ा में मैं किसी प्रकार की समकक्षता नहीं देख पाता हूँ।

प्रश्न—महादेवी के काव्य में प्रणयानुभूति के अनिरिक्त सत्य, सुन्दर कहाँ तक साध्य और साधन है ?

उत्तर—मैं प्रश्न को ठीक तरह हृदयङ्गम नहीं कर पाया। मेरे लिए तो प्रत्येक सम्बन्ध सघन होकर प्रणय बन जाता है। मूर्त के लिए ही नहीं अमूर्त के प्रति भी प्रणय होता है। प्रणय अपनी शक्ति से मूर्त को अमूर्त और अमूर्त को मूर्त बना चलता है। अर्थात् प्रणयानुभूति से अतिरिक्त काव्य में कुछ और होने का अवकाश ही कहाँ है ? पर हाँ, महादेवी के काव्य में वेसा अवकाश रहा है क्योंकि बुद्धि वहाँ डूबी नहीं है, भीगी नहीं है; किञ्चित् स्वस्थ और सुरक्षित रह गई है। मीरा से पूछने चलो तो गिरिधारी से अलग कोई सत्य और सुन्दर उसके लिए बचता ही नहीं कि जिसके प्रति प्रणयानुभूति एवं प्रणय-निवेदन हो। उसके अतिरिक्त सत्य और सुन्दर को होने के लिए अधिष्ठान ही कहाँ है ? यदि है तो मानूँगा कि काव्य की त्रुटि है। इसी अर्थ में मैंने कहा कि आप के प्रश्न को मैं पूरी तरह हृदयङ्गम नहीं कर पाया।

प्रश्न—महादेवी जी काव्य को किन अर्थों में लेती हैं, “कला के लिए कला का सिद्धान्त” उनके काव्य पर कहाँ तक लागू होता है ?

उत्तर—प्रश्न के पहले भाग का उत्तर महादेवीजी से लीजिए।

‘कला-कला के लिए’—यह सूत्र महादेवीजी के काव्य से कितनी वृत्ति पाता है यह भी उस सूत्र के सूत्रधार से मालूम करने की बात है। मैं समझता हूँ कि माने जाने वाले लौकिक उद्देश्यों में से किसी के साथ उस कविता को कठिनाई से ही जड़ित देखा जा सकेगा। निरुद्देश्य तो उसे या किसी को कैसे कहा जा सकता है। पर क्योंकि हम किसी स्थूल और स्पष्ट लौकिक हेतु से उसे नहीं जोड़ सकते, इसलिए उस काव्य-कला को ‘कला के

लिए' ही खष्ट माना जाय तो कुछ अन्यथा न होगा।

प्रश्न—पद्य में व अपने-आप में स्निग्धता है, किन्तु गद्य उनकी सहानुभूति का कहीं तब बख़्शता है ?

उत्तर—आपकी बात ने कुछ ऐसा आशय तो है, जिससे मैं महमत हो सकता हूँ। पद्य में जैसे उन्होंने अपने को टटोला है, और अन्त में अपने को निवेदित किया है उसके प्रति जो उनके अपने आत्म में भिन्न नहीं है। इस तरह घूम-फेरकर उनका पद्य अधिकांश उन तक ही लौट आता है। उसमें जगत् नहीं है, मेरे खगाल में जगदाधार भी नहीं है। इसलिए वह काव्य कुछ इतना नायब्य और सूक्ष्म है कि अनुभूति तक में सुशिकल से आता है। यह सुविधा गद्य में तो है नहीं। गद्य इतना परिनिपेक्ष हो सकता ही नहीं है। इसलिए अनेक गद्य में सहज-भाव से हम, तुम की चर्चा हुई है। उनमें मानव-पान है और वास्तव परिस्थितियाँ हैं। केवल आत्म-ही-आत्म नहीं नहीं है।

गद्यानुभूति की गाने आवश्यक रूप में अपने में उत्तर के प्रति है। महादेवीजी के पद्य में वह इतर लगभग लुप्त है। इससे यह कहना कुछ हद तक ठीक ही है कि गद्य में उनकी सहानुभूति ओषाधवृक्ष अधिक मिली है।

प्रश्न—गद्यानुभूति के रेखा-चित्रों में वाक्य-धर्मों में आपकी क्या धारणा है ?

उत्तर—रेखा-चित्र से मतलब शाब्द आपका उन शब्द-निर्देशों से है जो उनकी पुस्तक 'अतीत के चल-चित्र' और 'गद्यानुभूति रेखाचित्र' में मिलते हैं। मेरे खगाल में वे शब्द-चित्र सुन्दर बन पड़े हैं और हम में सहानुभूति-परक स्पन्दन आते हैं। यह कि वे महिम्नमाने जाते जाते नायक-नायिकाओं के कल्पना-चित्र नहीं हैं, एक अन्तर्ही की बात है। ग्राह्यत्व में आभावाण्य की पर्याप्त से अधिक महत्त्व दिया है। आभावाण्य निमित्त प्रपञ्चाधारण भी होता है। समर्थ है कि हम साधारण के महत्त्व को पहिचानें। एक समय किसी साहित्य पत्रिका में अनेक साहित्य-प्राणियों ने 'साधारण्यवादी'

शब्द सुना था। उसका शास्त्रीय अर्थ मैं नहीं जानता, लेकिन इस अर्थ में 'साधारणीकरण' मुझे प्रिय और मान्य होता कि प्रत्येक निजता को हम इस रूप में लें और दें कि वह सार्वजनिक से विपन्न न रह जाय। महादेवी जी को इसके लिए यानी उनके रेखा-चित्रों के लिए मैं बधाई दे सकता हूँ। इसका मतलब यह कि मैं उनके प्रति उस सृष्टि के लिए कृतज्ञ हूँ।

प्रश्न—महादेवीजी की चित्रकला में विरहिणी नारियों के ही धुँधले चित्र मिलते हैं, ऐसा उनसे जान में हुआ है या अनजान में ?

उत्तर—जान-अनजान दोनों में।

प्रश्न—महादेवीजी की चित्रकला के सम्बन्ध में आपके क्या विचार हैं ?

उत्तर—महादेवी की रचनाओं में मैंने उनके बनाए चित्र देखे थे। पर उन्होंने जो अपने कमरे की भीतों पर चित्र आँके हुए थे, उनका मुझ पर अधिक प्रभाव पड़ा। पहली बार वहाँ जाने पर मैं उन भीत-चित्रों को मुग्ध-सा देखता रह गया। काव्य-पुस्तकों में अंकित, या स्वतन्त्र चित्र भावों को मूर्त करने के प्रयत्न में बने हैं। जीवन-प्रसंग से वे इतने जुड़े नहीं हैं। इससे वे पूरी तरह अनुभूति की पकड़ में नहीं बैठते। यों तो अश्लेषता भी एक प्रकार का रस है। पर उसकी बात यहाँ नहीं करूँगा। हम गर्व में रहते हैं, इससे जब हमारी बुद्धि कहीं अकृत-कार्य होती है, तो किञ्चित् अच्युता भी लगता है। वैसी दुर्बोधता उन चित्रों में है, पर मुझ-जैसे को कुछ देते वे नहीं जान पड़े। कमरे की भीतों पर जो चित्र थे वे उस प्रकार भाव-कैवल्य में से नहीं बने थे। उन्हें घटनात्मक भी कहा जा सकता है। जीवन-प्रसङ्ग से उनका सीधा सम्बन्ध था। शायद इसीलिए रेखांकन आदि की अपनी सम्भव नुटियों के बावजूद वे मुझे विभोर कर सके। मानना होगा कि महादेवीजी की चित्रकला जीवन से अधिक चिन्तन की ओर उन्मुख है। जीवन तो मांसलता माँगता है। उसके बिना वह चलता नहीं। पर चिन्तन के लिए शरीर ही बाधा है। इसलिए अशरीरी चित्रण चिन्तनाभिमुखता के

लिए अधिक अनुकूल पड़ सकता है। इसको फिर चाहे उसकी विशेषता कहा जाय चाहे मर्यादा।

प्रश्न—क्या आप के मन्तव्य से इस वस्तु-स्थिति पर भी प्रकाश पड़ता है कि उनके चित्रों में विरहिणी नारी का चित्रण विशेष है ?

उत्तर—हाँ, अपने निज के भाव पर आश्रित रहने के कारण और बाहर के घटना-जगत् से विमुख होने के कारण उनके चित्रों में एकाकिनी नारी का स्थान पा जाना सहज-सम्भव ही है। उस एकाकिनी को निश्चय ही अनेक भावों और रूपों में आना होगा। परस्परता के बीच उसकी एकान्तता एवं अभावात्मकता उस तरह निभ नहीं सकेगी। इसलिए उन चित्रों में उस प्रकार की सामाजिक परस्परता का अभाव स्वाभाविक मानना चाहिए।

प्रश्न—महादेवी के काव्य पर बुद्ध, रवीन्द्र, अरविन्द का प्रभाव कहाँ तक है ?

उत्तर—उस 'तक' के अनुपात का मुझे कुछ पता नहीं है। प्रश्न में आए तीनों व्यक्ति रहस्यवादी या आध्यात्मिक माने जाते हैं। आध्यात्मिक पर-प्रभाव को उस रूप में ले सकता ही नहीं है। उसे नितान्त मौलिक होना होता है। मौलिक से मतलब हर प्रभाव उसकी आत्मता में झुलकर ही उसे अङ्गीकृत हो पाता है। इस तरह कह सकते हैं कि परत्व को स्वत्व भाव से ही वह ले पाता है। महादेवीजी के सम्बन्ध में अनुपात का यद्यपि मुझे पता नहीं है तो भी यह इनकार करते नहीं बनता कि रवीन्द्र, बुद्ध आदि का उन पर प्रभाव है। प्रभाव है यह कहते बनता है, इसी में आशय है कि वह प्रभाव कुछ अलग से भी भल्लक आता है। स्वत्व में वह एकदम खो नहीं गया है। क्या मैं कहूँ कि अपने को जो पूरी तरह स्वीकार करने का आभास उनकी रचनाओं में नहीं है, वह बहुत-कुछ 'पर' को अपनाए रहने के कारण भी है।

प्रश्न—महादेवी और जैनेन्द्र के साहित्य में किस की कृतियाँ

अधिक स्थायी रहेंगी ?

उत्तर—जैनेन्द्र की तो चिर-चिरान्त स्थायी रहने वाली हैं। उसका अभिमान इससे कम मानने को क्यों तैयार हो। महादेवीजी की रचनाओं की जन्म-पत्री को भृगु-संहिता से मिलाकर देख लेना चाहिए, तब ठीक-ठीक उनकी आयु के वर्ष, पल, छिन का पता लग सकेगा।

प्रश्न—आपके उत्तर में तो उपहास है। क्या प्रश्न को आप उपहास के ही योग्य समझते हैं ?

उत्तर—और नहीं तो क्या ! आप ही कहिए प्रश्न में से विनोद के सिवा और क्या आशय लिया जा सकता है।

प्रश्न—तो क्या आप कविता को इतना अस्थायी मानते हैं कि वह कुछ क्षणों या पलों में ही सीमित है ?

उत्तर—नहीं, लेकिन उसकी आयु का निर्धारण कैसे हो ? हम से जुड़ा हुआ सब-कुछ 'अहम्' से भी जुड़ा है। अहं तो नाशवान है। इससे आगे-पीछे हमारी रचनाओं का भी नाश को प्राप्त होना है। काल तो अनन्त है, जिसको हम चिरस्थायित्व कहें उसकी क्या उस अनन्तता में बूँद जितनी भी गिनती है ! महादेवी की कविता मर्म को छूती है। मर्म सब का एक है। उसी को आत्मा कहें। अपने शुद्ध रूप में वही परमात्मा है। उस अवस्था में वह कालावाधित सत्य है। उसके नाश का प्रश्न ही नहीं। अतः यत्र-तत्र मार्मिक भी हो जाने के कारण केवल सामयिक भाव से जीकर समाप्त हो जाने वाली कविता वह नहीं है।

महात्मा भगवान्दीन

लेखन व्यक्ति के अन्तरंग की अभिव्यक्ति है। महात्मा भगवान्दीन जी के सम्बन्ध में तो यह और भी बात है। क्योंकि शुद्ध आत्म-प्रयोजन को छोड़कर किसी और नाते उन्होंने लिखा है, ऐसा मुझे नहीं मालूम। उनके लेख-क्रम को समझने के लिए हमें उनकी जीवनधारा का कुछ परिचय पाना चाहिए।

उनकी मूलवृत्ति साधक की वृत्ति है। धर्मपुस्तकों को उन्होंने विद्या के तीर पर नहीं मानो साधना के निमित्त पढ़ा। उस समय उनमें तीव्र धर्म-जिज्ञासा थी। धर्माध्ययन से जीवन धर्मार्थ होम देने की ही तत्परता उनमें जागती गई। वह उनके आत्ममंथन का समय था। उसका परिणाम यह हुआ कि नौकरों और परिवार को भविष्य पर छोड़ वह घर से निकल पड़े। धर्म की प्यास उनमें उत्कट थी। संयम साधना के वह व्रती थे। तीर्थों की यात्रा की, जंगल-पहाड़ घूमे, अनेक संस्थाएँ देखा और अन्त में ऋषभ-ब्रह्मचर्य-आश्रम लेकर हस्तिनापुर में जम बैठे।

यह काल साहित्य-रचना की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। धर्मोत्कण्ठा जागने से पूर्व देवकीनन्दन खत्री की चन्द्रकान्ता सन्तति के मुकाबले एक तिलस्मी उपन्यास उन्होंने लिखा था। जीवन में यह साधना का काल उपस्थित होने पर उन्होंने उस ग्रन्थ को जला दिया। इस समय उन्होंने दैनन्दिनी (डायरी) लिखी, जिसमें आत्ममंथन के अनुभव दर्ज किये। और कुछ भक्ति के पद भजन लिखे। ब्रह्मचर्य-आश्रम के बालक अवसर उनकी बनाई प्रार्थना गाया करते थे, इसके साथ धार्मिक पुस्तकों का अध्ययन करते

समय, उनकी कुञ्जी और भाष्य भी आत्मलाभ की दृष्टि से वह लिखा करते थे। स्पष्ट है कि यह सब साहित्य-रचना मुद्रण में नहीं आई, क्योंकि उसका ध्यान ही नहीं था। पर जीवन में उसका लाभ भरपूर हुआ।

ब्रह्मचर्य-आश्रम का काल महात्माजी के जीवन का अत्यन्त स्मरणीय परिच्छेद है। पुस्तकों से जो स्फूर्ति प्राप्त की थी, वह यदि भावुक थी तो आश्रम-जीवन उनके लिए कसौटी बन गया। यहाँ उनकी साधना में जो रुढ़िगत और सामाजिक था, वह कम होता गया और जो शुद्ध और नैतिक और आध्यात्मिक था, वह प्रबलतर होता गया। इसी समय ब्रह्मचर्य-आश्रम के इतिहास में संघर्ष उपस्थित हुआ, जिसको मैं तो आज रुढ़ि और प्रगति के संघर्ष के रूप में ही देखता हूँ।

अस्तु, इस काल में श्री नाथूराम प्रेमी ने उनसे 'जैन-हितैषी' में कुछ लेख प्राप्त किये। जिनमें धार्मिक श्रद्धा के साथ धार्मिक तेजस्विता भी देखी जा सकती है। आज भी वह लेख पुराने नहीं मालूम पड़ेंगे, उनमें फड़क है और सच्ची शान्ति का स्वर, क्योंकि मूल में धर्मनिष्ठा है और स्थिति से तीव्र असन्तोष।

इस काल उन्होंने रजिस्टरों में जो अपने अध्ययन और अनुभव के परिणाम अंकित किये अथवा कि सहयोगियों के साथ जो पत्रव्यवहार किया, वह भी यदि पाया और प्रकाशित किया जा सके तो वह साहित्य की अनमोल निधि सिद्ध हो, ऐसा मेरा अनुमान है।

किन्तु जीवन तो वर्धनशील है और हस्तिनापुर के ब्रह्मचर्य-आश्रम से अलग होकर जल्दी ही उन्होंने अपने को राष्ट्रीय क्षेत्र में पाया। आन्दोलन के आत्यन्तिक प्रारम्भ, यानी सन् '१८ में ही वह जेल पहुँचे। इस काल की उनकी अभिव्यक्ति राष्ट्रीय गौरव से भरी हुई है। उन्होंने भाषण दिये, कविताएँ लिखीं और विविध प्रकार से अपने विचार व्यक्त किए। पहली बार जेल में दो मोटे रजिस्टर तो दोनों तरफ से भरकर लिखे ही। यह राष्ट्रीय प्रवृत्ति टेट सन् '३४ तक उनमें प्रधान रही इसमें जीवन कर्म से इतना भरा था कि अलग से लिखने को अवसर न था। जेल ही लिखने के लिए जगह

हो सकती थी। वह समय उनका साहित्य-रचना की दृष्टि से कभी खाली नहीं गया। कभी मुझे उन जेल के रजिस्ट्रों में भाँकने का सौभाग्य मिला है, मैंने पाया है कि उनकी अधिकांश अभिव्यक्ति अध्यात्म-मुखी है और अतिशय मूल्यवान् है। मुझे भय है कि बहुत कमके वह आज अप्राप्य है।

सन् '२१ में अरविन्द घोष का तत्कालीन साहित्य महात्माजी इसी दृष्टि-कोण से पढ़ते और स्वीकार करते थे कि वह जैन-आत्मवाद और कर्मवाद तथा सुक्तिवाद का शुद्ध समर्थन है।

इस राष्ट्रीय और राजनैतिक अध्याय के बाद उनके जीवन का समन्वय-युग आरम्भ होता है। इस काल में उन्होंने अत्यन्त रुचिकर बाल-साहित्य का निर्माण किया है, वह इतस्ततः पत्रों में छपता भी रहा है। यद्यपि रचनाकार का उन पर नाम नहीं रहा है। यह पद्यात्मक है और किन्हीं उद्योगी को इन्हें पुस्तकाकार निकालने का यत्न करना चाहिए।

इनके साथ कुछ निबन्ध भी उन्होंने लिखे हैं। यथा प्रयोजन ही अधिकांश बाध्य होकर वह लिखते हैं और उनके लेखों का श्रेय उनसे अधिक विश्ववाणी के सम्पादक को है, जहाँ कि वह छपते रहे हैं। जैन-संस्कृति वाला लेख तो जैनियों को विशेष रुचिकर हुआ है और जहाँ-तहाँ उद्धृत होता रहा है। उन निबन्धों की खूबी यह है कि भाषा एकदम सहज और बोलचाल की है; भाव वह हैं जो आध्यात्मिकों के लिए गूढ़ पड़ते हैं। अत्यन्त कठिन विषय को बेहद सरलता से वे उपस्थित करते हैं। और किसी पक्ष का खण्डन न करके सत्य पक्ष को ऐसे चित्रित करते हैं मानो वह उनका सब का समुच्चय ही हो। यही आपने जैन-धर्म की अनेकान्त पद्धति है।

उनके इस समूचे जीवन-काल में और उसमें सृष्ट साहित्य में यहाँ से वहाँ तक एक विशेष निष्ठा की रीढ़ देखी जा सकती है। उस निष्ठा को नाम देना चाहूँगा आत्म-धर्म परायणता। यह गुण उनके रचे प्रत्येक शब्द को स्पन्दन और स्थायित्व देता है। इसी से वह निस्तेज नहीं पड़ सकता।

‘तत्त्वार्थ-सूत्र’ उन्होंने अपने जीवन के पहले उत्थान में पढ़ा। तब से जानो वह उनके समूचे आत्म दर्शन का मूलाधार ही बन गया है। उन्होंने

उसे अपने ही रूप से मनन किया और मन में बैठाया है। अपने आचरण को भी उस पर ही गढ़ने की चेष्टा की है। हम उसे मोक्ष-शास्त्र कहते हैं। महात्माजी उसे अपने शब्दों में 'स्वातन्त्र्य-दर्शन-सार' कहते हैं। उक्त ग्रन्थ का भाष्य उन्होंने शायद ऋषभ ब्रह्मचर्य-आश्रम में रहते ही आरम्भ किया था। लेकिन वह बात अब भी उनके मन में उपस्थित है और भला दिन होगा जब उस महान् ग्रन्थ का भाष्य महात्माजी सबके लाभ के लिए लिखकर प्रकाशित होने दे सकेंगे।

ऊपर की पंक्तियाँ एक जैन मासिक पत्र के लेखक से विशेषार्थ के लिए कोई बारह वर्ष पूर्व लिखाई गई थीं। लेकिन भगवानदीन जी के साथ उनसे न्याय नहीं होता। जैन-परम्परा में से वह हमें प्राप्त हुए यह सही है, लेकिन जैन के नाते उन्हें समझना न पर्याप्त होगा न समीचीन होगा। यह तो कहा ही जा चुका है कि लेखन भी उन्हें बन्धन नहीं है। अपने अनुभव में प्राप्त सत्य के अतिरिक्त वह कुछ नहीं लिखते और लिख नहीं सकते ? कल्पना का उपयोग यदि कहीं उन में है भी तो वह भी इसी सत्य के हेतु से है।

उनका जीवन स्फूर्ति से और कर्म से भरा रहा है। आडम्बर और आकांक्षा जैसी वस्तु उनमें नहीं है। परिणाम यह कि ऊँची-नीची नाना परिस्थितियों में रहकर भी वह अपनेपन से दूर नहीं गये हैं। सदा अतिशय सहज और सरल बने रहे हैं। दुनियादारी एक क्षण भी उन पर ठहर नहीं सकी है, उनसे एकदम अलग उतरी दिखाई देती हैं। मानो उन्हें ऊँच की अपेक्षा नहीं है, इससे नीच की भी अपेक्षा नहीं है। सब उन्हें समान हैं और उनका व्यवहार इतना खुला है कि देखकर अचरज होता है। जब प्रान्तीय कांग्रेस के अध्यक्ष थे तब भी स्टेशन से आश्रम तक शहर में होकर तीन मील कन्धों पर गन्नों की पूली उठाये लिए चले आना उनके लिए ऐसी बात न थी कि एक क्षण को भी उन्हें उसका ख्याल होता। उनकी वृत्ति में और सम्पर्क में भेद-भाव नहीं है। जैसे जगत् की माया उन्हें छूती नहीं है। एक विशेष प्रकार की निरीहता उनका जन्म-जात गुण है, उसकी साधना उन्हें नहीं

करनी पड़ी है। किन्हीं भी परिस्थितियों में अथवा वातावरण में यह वस्तु उनसे दूर नहीं हो सकी है। इसी का प्रतिबिम्ब उनके साहित्य में दीख मिलता है। इधर चार-पाँच बरसों में उन्होंने इतना लिखा है और इतने प्रकार का लिखा है कि विस्मय होता है। लिखने के प्रकार में परिवर्तन लाते उन्हें तनिक भी प्रयास नहीं करना पड़ता। अभी बालकों के लिए चुटकले और गीत लिखा रहे हैं कि अगले क्षण ही उनसे गूढ़ तत्त्वज्ञान की सामग्री प्राप्त की जा सकती है। इन दिनों में आसपास उन्होंने १२५, १५०, कहा-नियाँ लिखा दी होंगी। बाल-सामग्री का तो परिमाण नहीं। 'नया हिन्द' के हर अंक में उनके नोट आप पायेंगे। 'रेडियो-विज्ञान' के ऊपर एक पूरी पुस्तक तैयार है। और उस कठिन वैज्ञानिक चीज का परिचय ऐसा सुलभ और सुबोध बनाकर दिया गया है कि बालक भी समझ लें। "जवानो" के लिए जो वह लिखा गये हैं, लिख रहे हैं, और लिख सकते हैं, भारत में उसका जोड़ नहीं मिलेगा। एक पुस्तक 'जवानो' छपी ही है जिसके एकाधिक संस्करण निकले हैं और बड़ी माँग हुई है। जिसने पढ़ा है मुग्ध हो गया है। उसी जोड़ के निबन्ध अभी इतने हैं कि दो नये संकलन निकल सकते हैं। "जवानो राह यह है" नाम का उनका लेख किसी जवान को बेकार और आलसी नहीं रहने देगा। "सफलता" पर एक लेख-माला है, जिससे जवान समझे बिना नहीं रह सकता कि सफलता कहीं उससे दूर नहीं है, उसके अन्दर है और बस उसे हाथों में ले लेने की देर है।

किन्तु भगवानदीन जी महात्मा ठहरे। एक गांधीजी की महात्माई थी जिसमें हिसाब न छूटता था, न पैसा छूटता था। जाने कहाँ-कहाँ से करोड़-ही-करोड़ रुपया बहकर गाँधीजी में पहुँचा और वहाँ से देश की प्राण-वाहिनी नसों में पहुँचा दिया गया। ऐसे धन ने, जो मैल है, खाद बनकर गाँधी के द्वारा जीवन में वह फल और फूल खिलाए कि देश कुल्लू काल के लिए मनोहर उद्यान बन गया। गाँधीजी ने पाई-पाई बटोरी और उसका हिसाब रखा। भगवानदीन जी बिखराते चले जाते हैं, जैसे किसान खेत में धान बिखराता है। उनकी लिखी सामग्री जहाँ-तहाँ छितरी पड़ी है। कितनी

उसमें लुप्त हो गई है, पार नहीं। जेल में उनका कम जीवन नहीं गया। और हर जेल-प्रवास में अथक होकर उन्होंने लिखा। कापियों-पर-कापियाँ और रजिस्टर-पर-रजिस्टर भरते चले गए। सामग्री की दृष्टि से आसमान से लेकर धरती तक उसमें क्या कुछ न था। गद्य, पद्य, कहानी, विचार, भजन, गीत, तत्त्वज्ञान, अनुमन्धान, नीतिज्ञान, दोहे, श्लोक, चौपाई, और जाने क्या-क्या। पर लिखने से आगे जैसे महात्माजी को उमरो सम्बन्ध न रहा। जहाँ जो चीज रही रह गई। फिर क्या उनका बना मानां इससे उन्हें वास्ता नहीं। अब लोग उनसे कुछ लेकर जहाँ-तहाँ छुपने भेज देते हैं। छुप जाता है और चार-पाँच बितावें भी निकल गई हैं, पर यह लोगों का काम रहा है। महात्माजी का तो काम जैसे लिख जाने पर खत्म हो गया।

कहते हैं युग अर्थ का है और हिसाब का है। होगा, महात्माजी तो अपने युग में रहते हैं और वह मानो सतयुग है। लेखों पर पारिश्रमिक मिल निकला है और कभी कहते हैं अच्छी रकम भी मिल जाती है। लोग सुनते हैं कमा भी रहे हैं। विलायतों में तो वह बड़े ऊँचे पाए का धन्धा है। यश, मान, धन सभी का अर्जन है। पर वह होगा। महात्मा जी को उसका पता नहीं है। जैसे उस बात के पता रखने का वह अपनी तरफ से किमी को मौका ही नहीं देना चाहते। गांधीजी की तरफ से 'नवजीवन-कार्यालय' आपको उनकी रचनाओं के सम्बन्ध में स्वतन्त्रता नहीं लेने देगा। खुद गाँधीजी ने यह व्यवस्था हो जाने दी है। विनोबा के लिए भी एक 'ग्राम-सेवा-मंडल' है। फल यह है कि वह साहित्य सुरक्षित और विधिवत् प्रकाशित है। काश कि ऐसा कुछ महात्मा भगवान्दीन जी के सम्बन्ध में भी हो सके।
 १. तब हमें लाभ होगा और शायद हमें चकित रह जाना हो कि कितनी प्रचुर और विविध उनकी रचनाएँ हैं और कितनी सरल और सशक्त।

माताजी

अपनी माताजी के बारे में कुछ कहते सुने भिन्न होती है। पिता को तो मैंने जाना ही नहीं। चार महीने का था, तभी सुनते हैं उनका देहान्त हो गया। पिता की ओर के किन्हीं सम्बन्धी होने का सुने पता नहीं। हालत थी नकद या जायदाद की तरफ से एकदम सिफर। इससे छुटपन से ही हमारे परिवार का बोझ माताजी के मायके वालों पर आया। लेकिन मेरे जन्म के बाद नाना और नानी अधिक काल नहीं रहे। मामा (महात्मा भगवानदीन जी) की उम्र छोटी थी और उसी अवस्था में उन्हें नौकरी पर जाना पड़ा। हम उन्हीं के आश्रय में पले।

पर महात्माजी के मन में धर्म-श्रद्धा का बीज था। स्वाध्याय से वह अंकुरित हो रहा था। तभी ला० गैदनलालजी का साथ उन्हें मिला। लालाजी फतहपुर में थे और धर्म की उन्हें गाढ़ी अभिरुचि थी। आचरण को अपने विश्वास के बराबर लाने की लगन में दोनों ने घर छोड़ ब्रती और ब्रह्मचारी होने की टानी। नौकरी उस यज्ञ में स्वाहा हुई और हम भाई-बहिनों को लेकर माता जी अपने मायके के घर अतरौली आ गईं।

महात्माजी और ला० गैदनलालजी भारत-भर की तीर्थ-यात्रा पर निकले माताजी साथ थीं, अर्जुनलालजी सेठी और बा० अजितप्रसादजी आदि भी साथ रहे। महात्माजी ने तो कुछ विजन-वन-यात्रा भी की। इस तरह घर छोड़ने के कोई एक-डेढ़ वर्ष के अनन्तर हस्तिनापुर में ब्रह्मचर्याश्रम कायम हुआ और हम बालक उसके पहले ब्रह्मचारी हुए। बालकों की समस्या ऐसे हल हुई। बालिकाओं का भार माताजी पर आया। दो मेरी बहिनें थीं,

दो कन्याएँ ला० गेंदनलाल जी की थीं। घर के बड़े जब ब्रती हुए तो हम बालक तो गुरुकुल में आ गए; पर दोनों परिवारों में के शेष व्यक्तियों को सम्भालने के लिए माताजी के सिवाय और कोई न था। मामी (महात्माजी की पत्नी भी) उस दल में थीं। तब हुआ कि माताजी सबको लेकर बम्बई मगनबाई जी के आश्रम चली जावें। चल-सम्पत्ति में जितना जो था राई-रती महात्माजी ने हस्तिनापुर-आश्रम की नांव में होम दिया।

आगे कैसे हुआ और क्या हुआ, यह माताजी ही जानती हैं। महा-त्माजी भी जानते होंगे तो शायद पूरा पता नहीं। ब्रह्मचारी गेंदनलालजी के पास तो कुछ बैंक-एकाउन्ट बचा रह गया था, लेकिन महात्माजी ने अपने और अपने के प्रति दया को कमजोरी समझा। अचल-सम्पत्ति अत-रौली में नाना की कुछ बची रह गई थी। महात्माजी उधर से उदासीन हुए तो वह भार भी माता जी पर आया। अतरौली मामूली कृषा है और सम्पत्ति में दो-तीन मकान ही कहिए, जिनकी आय विशेष क्या हो सकती थी। आधार के लिए मिर्फ वह, पालने को खासा कुनवा, और इस बारे में सोचने और करने-धरने को अकेली मेरी एक मौँ।

उस समय की बातों का ठीक व्यौरा मुझे शत नहीं, अनुमान-भर कर सकता हूँ। शायद अतरौली में परिवार के अर्थ अरहर की दाल का उन्होंने व्यवसाय किया था। बहुत छुटपन की मुझे धीमी-धीमी सुघ है कि घर में दाल की खूब चक्कियाँ चला करती थीं। माताजी पीसती थीं, मामी और दूसरे जन भी पीसते थे। शायद उस काम में खास नफा नहीं रहा; बल्कि कुछ टोटा ही पड़ा, क्योंकि बाहर का काम जिनके सुपुर्द था वे मर्द थे और अपने न थे, वेतन के थे। उसके बाद, याद पड़ता है, अतरौली और अली-गढ़ के बीच इक्के चलाने का उन्होंने व्यवसाय किया था। खुले हुए इक्कों और दाना खाते और रह-रहकर हिन-हिनाते हुए घोड़ों से भरे बाहर के चौक की तसवीर मेरे मन में अब भी कभी-कभी धुन्वली-सी झलक आती है। यह काम भी फलाफूला, ऐसा नहीं जान पड़ता। फिर तो माताजी शायद मामीजी और चारों बहिनों को लेकर बम्बई ही जा पहुँची। इससे

पहले साधारण अक्षर ज्ञान ही उन्हें रहा होगा। बम्बई में एक वर्ष के भीतर धर्म का अच्छा परिचय और अपनी व्यावहारिक कुशलता के कारण लोक-संग्रह और सार्वजनिक कार्य में अच्छी दक्षता उन्होंने प्राप्त कर ली। धर्म-निष्ठा उनमें मूल से थी। मृत्यु-समय तक वह उसमें अडिग और तत्पर रहें। बहुत जल्दी धार्मिक जनों में उनकी मांग होने लगी और वह इन्दौर, दिल्ली आदि स्थानों पर धार्मिक अवसरों के उपलक्ष्य बुलाई जाने लगीं।

स्थापना के समय से ही हस्तिनापुर आश्रम को त्यागी भाई मोतीलाल जी का सहयोग मिला। उनका एक मकान दिल्ली के मतघरे में था। भाई जी का आग्रह हुआ और माताजी ने उस मकान में शायद एक आश्रम-श्रम आरम्भ किया।

इससे पहले सेठ हुक्मचन्दजी और कंचनबाई जी के अनुरोध पर कदाचित् एक वर्ष के लिए उनके आश्रम का संचालन माताजी पर आया था। बम्बई में मगनबाईजी के अलावा ब्रह्मचारिणी कंकुबाई, ललिता बहिन आदि से मैत्री-सम्बन्ध हो गया था। और इन्दौर में कंचनबाईजी, पंडिता भूरीबाईजी आदि से उनका अत्यन्त स्नेह का सम्बन्ध बन आया।

इस अरसे में दिल्ली के धर्मवत्सल बन्धु-भगनियों के प्रेम के कारण उनका दिल्ली आना-जाना होता ही रहता था। अन्त में यहाँ के भाई-बहिनों के उत्साह और अनुरोध पर सन् १८८८ में पहाड़ी पर जैन-महिलाश्रम की स्थापना हुई और माताजी उसकी संचालिका हुईं।

इतना कुछ करते-वर्तते हुए भी अत्ररौली के मकानों की देखभाल भी उनसे न छूटी थी। मामले-सुकदमे भी लगे ही रहा करते थे, इन्दौर आश्रम-संचालन का काम और समय ही ऐसा था। जिसमें उन पर अपने व्यय का भार नहीं पड़ा। शायद रहने-सहने के खर्च के अतिरिक्त साठ रुपया उन्हें वहाँ मिलता था। शेष में तो अत्ररौली की सम्पत्ति की व्यवस्था के आधार पर ही उन्हें चलना था। इस तरह अपने पिता (हमारे नाना) के निजी रहने के मकान को छोड़कर शेष जायदाद धीरे-धीरे करके उन्हें बेच देनी पड़ी।

इधर सन् '१८ में हस्तिनापुर से मैं निकल आया था। साम्प्रदायिकता, दलगत और व्यक्तिगत स्पर्द्धा-वैमनस्य जो न कराये थोड़ा। परिणाम यह हुआ कि सन् '१७ में महात्माजी वहाँ से अलग हो चुके थे और सन् '१८ तक बड़ी श्रेष्ठियों के बालक ज्यादातर वहाँ से जा चुके थे। निकल कर आया तब माताजी दिल्ली महिलाश्रम की संचालिका थीं।

सन् '१८ से सन् '३६ तक के उनके जीवन का मैं थोड़ा-बहुत साक्षी रहा हूँ। वह इतिहास एक दृष्टि से मेरे लिए विस्मयकर है तो दूसरी तरफ़ से वह मेरे लिए दुख और चिन्ता का कारण है। एक गहरी भीति, संकोच और उदासीनता उससे मेरे भीतर समा गई है। सन् '११ में छैः वर्ष की अवस्था में उनसे छूटकर तेरह वर्ष का होकर सन् '१८ में मैं उनके पास आया था और इकतीस वर्ष की आयु तक उनके सम्पर्क में रहा। आखिर सन् '३६ में महायात्रा के प्रयाण पर उन्हें इकला छोड़कर उनसे अलग मैं यहाँ रह गया। तेरह से तीस वर्ष तक की आयु के साल बनने और बिगड़ने के होते हैं। जो मैं बना-बिगड़ा हूँ, उसमें इन्हीं वर्षों का हाथ रहा होगा।

विस्मय होता है मुझे माताजी के अद्भ्य उत्साह पर। उनका साहस कभी न टूटा। कर्मठता एक क्षण को उनके जीवन में कोई मूर्छित नहीं कर पाया। मैंने कभी उन्हें अपने लिए रहते नहीं पाया। दो धोतियाँ उनके पास रहती थीं और संकल्प-पूर्वक चार धोतियों से अधिक वस्त्र उन्होंने नहीं रखे। इसके अतिरिक्त चादर और फतूही। अपने में वह व्यस्त और ग्रस्त न थीं, जैसा अक्सर बुद्धिमानों का हाल होता है। अपने सम्पर्क में आने वालों में वह हिलमिल जातीं और उनके सुख-दुख में एक हो जातीं थीं। परिवार का कोई व्यक्ति और किसी का विचार उनके स्नेह और चिन्ता से बचता न था।

आचार में वह कटोर थीं। मैं सदा का शिथिलाचारी, रात्रि-भोजन के सम्बन्ध में असावधान लेकिन उनका इकलौता बेटा था तो क्या, मुझे याद है, शुरु में देर से लौटने पर कई दिन-रात का मुझे खाना नहीं दिया गया था। कुल मर्यादा और सामाजिक व्यवहार के शील-सम्भ्रम का उन्हें पूरा

चेत था। महिलाश्रम का सम्पूर्ण भार उन पर था। अर्थ-संग्रह और आंतरिक व्यवस्था, उसके अतिरिक्त जन-संग्रह भी। इस अति दुर्बल कर्म-चक्र में हत-बुद्धि हो जाते मैंने उन्हें देखा है, ऐसा याद नहीं पड़ता। पैसा नहीं है, व्यवस्था-समिति ने धन रोक लिया है, भकान का कई महीनों का फ़िराया चढ़ गया है, आश्रम में चालीस-पैंतालीस आश्रित जन हैं, माताजी कल ही अमुक् उत्सव या कार्य से लौटी हैं, भकान-भालिक का उन्हें नोटिस बताया गया, सब और की निराशा उन तक आई, व्यवस्था-समिति का विद्रोही और विस्तुब्ध रख उन पर प्रकट हुआ। अभी ठीक तरह बृद्ध शरीर की थकान भी नहीं उतार पाई हैं कि राव सुनकर उन्होंने कहा, 'शिवकुमार, टंक में दो धोती तो रख देना बेटा ! कुछ मठरी-चठरी बना देनी होगी, रिपोर्ट और रसीदें रख देना। और क्यों, तू चलेगी ? जाने दे, मैं अकेली ही चली जाऊँगी। सबेरे जाना होगा। ठीक कर दे, बेटा !' देखा है कि इस तरह सदा ही वह निकल पड़ी हैं इस फैले विश्व के विश्वास के बल पर और अपना भरोसा उन्होंने नहीं खोया है।

उनके प्रति विस्मय और श्रद्धा बढ़ती ही गई है तो दूसरी ओर गहरा अवसाद भी मेरे मन में बैठ गया है। जगत् के प्रति घोर उपेक्षा का-सा जो भाव भीतर समा गया है, मुझे हमेशा डमता रहता है। माताजी जैन-समाज की सदस्या थीं और सत्य की साक्षी से जानता हूँ कि जीवन के अन्त के पच्चीस वर्ष उनके उस समाज की सेवा और चिन्ता में बीते। इस लगन में उन्होंने अपने को दया या क्षमा नहीं दी। लेकिन उनको जो पुरस्कार मिला, मेरी आँखों के सामने है। मन्दिर में, घर में, खुली सड़क पर उनका अपमान हुआ। वह मर्गे तो समाज को अपहृष्टि उन पर थी। श्मशान-यात्रा पर जैन-जन नहीं के बराबर थे। इस पर कभी तो घोर नास्तिकता मेरे मन में छा जाती है। फिर सोचता हूँ कि शायद सेवा-धर्म की यही परीक्षा है। जो हो, एक गहरा शोक सदा ही मन को डसे रहता है, जो जैन-समाज से मुझे कुछ भयभीत और उसकी सेवा से कुछ दूर बनाए रखता है। जीवन में इस गम्भीर अकृतार्थता को लेकर मुझे जीना पड़ रहा है।

माताजी पर सोचता हूँ तो जान पड़ता है कि वह एक नारी थीं जिनको प्रश्रय नहीं मिला, बल्कि जिनसे प्रश्रय माँगा गया। लता बनकर दूसरे के सहारे उठने और हरे-भरे होने की सुविधा नहीं आई। वृक्ष की भाँति अपनी निजता के बल पर उन्हें इस तरह उठना और फेंकना पड़ा कि अनेकों को उनके तले छाँह और रक्षा मिली और बाहर के आतप, वर्षा और शीत को अपने ऊपर ही उन्होंने सह लिया। वह जीवन से जुझती रहीं, और इकली बनकर नहीं, स्वयं में एक संस्था बनाकर। अपने डैनों के नीचे अनेकों को समेटे इस अपार शून्यता में मानो हटपूर्वक वह ऊँचाई की ओर ही उड़ती गईं। समय आया तो शरीर गिर गया, लेकिन प्राण तब भी उसमें से ऊपर ही की ओर उठे।

मृत्यु-शैया पर थीं। गिनती के दिन ही अब उन्हें जीना था। मैंने कहा, “पीने को अंग्रेजी दवा ले लो।” लेकिन जो नहीं हो सकता था, नहीं हुआ। रात में कै होती थी, प्यास लगती थी, मैं कहता था, “क्या है पानी पी लो न ?” कहने से कै के बाद कुल्ला तो उन्होंने किया; लेकिन कुछ भी हो, गले के नीचे एक घूँट पानी उतारने के लिए मैं उन्हें राजी न कर सका। अपने नेम को रखकर जिन्दगी को चुनौती दिए जाने और उससे जुझते रहने की बात सुनता था, समझता भी था; लेकिन माताजी में उसे देखकर मैं सहमा रह गया हूँ। उस आग्रह में गर्व भी तो न था, एक निष्कपट सहजता थी। वह आग्रह विनम्र था, कष्टर तनिक भी न था और मेरे जैसा तब का बुद्धिवादी भी उसे मूढ़ता कहकर टाल नहीं पाता था; बल्कि उसकी सत्यता के आगे बरबस उसे झुक जाना होता था।

एक कसक वह मन में लेकर ही गईं। वह कसक थी उनमें इस मुझको लेकर। इस दुनिया में मैं कैसे जीऊँगा, जो भी पाऊँगा, या नहीं, इस बारे में वह चारों ओर से आश्वासन खोजती थीं, पर किसी ओर से इतना भी आश्वासन मरते दम तक उनको नहीं मिल सका। कोई अभिभावक न था। महात्माजी ने और उनकी गोद में लुढ़ककर तो उन्होंने प्राण ही दिये, पर उनके जैसे विरागी जन से सांसारिक अपेक्षा रखने का दोष मैं से ही ही कैसे

सकता था ? उनकी मर्गी और इकली बहिन थीं; पर भाई को भाई से भी अधिक इतना मानती थीं कि उनकी आत्मलीन सामारिक उदासीनता पर भूले भी कोई विकार नहीं ला सकती थ। तब उनके इस अक्षम और निरीह इकलौते बेटे को अपनी छुांह पढ़ाकर उसके तले ले लेने वाला इस जगत् में कौन था ? फिर जगत् के पास सहानुभूति का इतना अतिरेक भी कहाँ है कि उसकी आशा और अपेक्षा की जा सके ? बल्कि उसे स्वयं सहानुभूति की भूल है । ऐसे में हे भगवान् ! उनके इस इकलौते जैनेन्द्र का क्या होगा ? मानो वह पूछती थीं और कहाँ से इसका कुछ उत्तर न पाकर मरने के लिए वह श्रुद्यत हो जाती थीं ।

मुझसे उन्हें कुछ सान्त्वना न थी । अपने पेट लायक रोटी भी मैं कैसे जुटाऊँगा ! और उस वक्त तक तो दो बच्चों का पिता भी मैं हो चुका था । सच है कि साहित्य में थोड़ा-बहुत अलखारी नाम मेरा हो जाने के कारण कुछ तो उन्हें धीरज बँधा था; पर आर्थिक तल पर वह तनिक भी उनकी सान्त्वना का निमित्त हो सका था, ऐसा मानने की भूल का बहाना मेरे पास नहीं है ।

लेकिन, महात्माजी का मानना है—और हम दोनों ही उनकी मृत्यु-मुहूर्त के साक्षी थे कि मरने से काफी पहले उनके धार्मिक संस्कारों ने उन्हें संसार के रागादिक बन्धनों से उत्तीर्णता दे दी थी और चिन्ता बाँधकर नहीं, अन्दर के विश्वास का संबल लेकर अपनी अनन्त यात्रा पर उन्होंने इस धराधाम से कूच किया ।

और मैं क्या कहूँ ? मैं अयोग्य, उनकी याद से सदा अपनी रक्षा खोजता हूँ । मुझसे उन्हें दुःख ही मिला । आज भी अपनी तरफ देखता हूँ तो नहीं लगता कि उनकी आत्मा को मुझसे सुख पहुँचा होगा । उनकी याद को मैंने मिट जाने दिया है और उसको जगाने और कायम रखने का कोई काम मुझ से न होगा । उनका महिलाश्रम था । क्या महिलाश्रम जैसी कोई चीज उनकी याद में नहीं बननी चाहिए, नहीं बन सकती ? जरूर बननी चाहिए और जरूर बन सकती है, लेकिन मुझमें कभी इस बारे में मुँह खोलने तक

का साहस नहीं होता । अपनी अपात्रता को देखकर यह तक याद दिलाने में मैं चूकता हूँ कि वह माता मेरी थी । समाज जाने, शेष जन जानें, जैन लोग जानें । उनके नाते मेरे पास तो प्रायश्चित्त ही शेष बचता है कि जीते जी उन्हें दुःख तो देना नहा, मरने के बाद ऐसा तो वनूँ कि तनिक उन्हें सुख हो । पर हाय प्राणी, कितना अवश है और अपने ही कर्मों के बन्ध से कितना जड़ित है कि मन के भीतर की जो चाहना हैं वह कभी नहीं हो पाती । इस विवशता पर जानता हूँ, माँ मुझे क्षमा कर देंगी, जैसे कि सदा ही करती रही हैं । पर मेरा चलना मुझ से कैसे छूटे ?

माँ की याद मुझे भूलती नहीं है । क्योंकि मेरे लिए पिता भी वही रही । पिता को मैंने जाना ही नहीं । सुनता हूँ दो वर्ष का था तभी उनका देहान्त हो गया । न किसी और सम्बन्धी के होने का पता है । मेरा पालन-पोषण एक उन्होंने ही किया । पिता के देहान्त के बाद हम मामा के यहाँ आ गये । मामा का स्वभाव अलग था । संसार में उन्हें रुचि न थी । मामा की गृहस्थी का भार भी माँ पर आ रहा समझो । हम तीन भाई-बहन थे और मामा की गृहस्थी में भी तीन जन कहो । इस तरह सात-आठ जनों की गृहस्थी माता जी के कंधों पर आ रही । शुरू में मामा की पन्द्रह रुपये की नौकरी लगी । मैं तब चार से भी कम वर्ष का रहा हूँगा, लेकिन पन्द्रह रुपये की आमदनी में हम सात-आठ जन कितनी खुशी से रहते थे । आज भी याद करते हैं तो अचरज होता है । मामा निसंग थे । माता जी पर व्यवस्था थी और सब काम इतने आनन्द और ढंग से चलता था कि अनुमान नहीं किया जा सकता । चार-पाँच वर्ष रेल की नौकरी को न हुए होंगे कि मामा को घर दूधर हुआ । उनका मन ऊँचा था और धर्म-पुस्तकों के स्वाध्याय ने जो प्रेरणा दी थी उसका निवारण सम्भव न हुआ । गृहस्थी उन्हें बाँधकर न रख सकी । आत्म-प्राप्ति की खोज में उन्होंने सन् दस में तार से इस्तीफा देकर नौकरी छोड़ दी और हम छै जनों का सब भार माँ पर आया ।

मामा पहले हिमालय के पहाड़ घूमे, फिर इधर-उधर गये और अन्त

मैं उन्होंने एक आश्रम स्थापित किया। मैं हम सब को लेकर घर आ रही और नाना जतन से सबको कायम रखा। हम इतने प्राणियों का बोझ कम न था, लेकिन भाई के मार्ग में वह बाधा नहीं बनी। ऊँचे लक्ष्य को लेकर जब भाई जा रहे हैं तो घर-गृहस्थी की, संसार की बातों का ध्यान तक दिलाना मैं ने सही न समझा। मामा की नई उमर की पत्नी थीं ? नन्हा-सा गोद का बच्चा था। मानो सब पर छाँह का हाथ रखकर मैं ने प्रसन्नता से कहा, भाई तुम्हें ऊपर से पुकार आई है, तुम बड़भागी हो। जाओ, इन सब बाल-बच्चों की चिन्ता लेकर तुम्हारे कुछ काम आ सकूँ तो यही मेरे लिए बहुत है। इस अभय को लेकर मामा गये और महात्मा बन गये और अब तक महात्मा हैं। मैं निस्सहाय निराश्रित दो परिवारों के बोझ को लेकर हारी नहीं। उन्होंने विलाप नहीं किया न भाग्य की प्रतीक्षा की, बल्कि प्रयत्न पुरुषार्थ को हाथ में लिया। अतरोली के कस्बे में बैठकर दाल का काम शुरू किया। अरहर की दाल घर के सप लोग दलते और वह दालें दिसावर भेजी जातीं। इसके बाद शायद कुछ इक्के रखे गये और चलवाये गए। यह कसाले का समय उद्यम से भरा रहा और परिस्थिति की प्रतिकूलता खल न पाई।

उसके बाद महात्माजी का आश्रम बना और हम दोनों बालक—मैं और वीरेन्द्र आश्रम चले आये। मैं सातवें वर्ष में था और वीरेन्द्र मुझसे भी तीन वर्ष छोटा था। उस समय की मैं की ममता मुझे याद है। हमें छोड़ते उनका दिल टूटता था। आश्रम में बालक नियमों की सख्ती में रखे जाने वाले थे। जूता पैर में हो न सकता था और न किसी तरह का आराम। पर मैं में ममता से बड़ी भी चीज थी। मन कच्चा करती तो औरों का क्या होता जो उनकी ओर देखकर चलते थे। लेकिन हम दो बालकों के जाने से मैं का बोझ कम न हुआ। दो कन्याएँ और उनके रक्षण में आ पहुँचीं। आश्रम में एक लाला गेंदनलाल जो सहयोगी बने और अपना जीवन आश्रम को देते समय उन्होंने दोनों कन्याएँ माताजी को सौंपी। अब पाँच जन मैं की शरण में थे। मामा की पत्नी, दो बहनें और

वे नई बहनें। माँ को अब तक अक्षर-ज्ञान न था। किन्तु उनमें साहस था और व्यवहार-बुद्धि। बम्बई में महिलाओं की एक संस्था होने का उन्हें पता लगा और वह वहाँ पहुँचीं। एक-दो वर्ष के अन्दर माँ ने वहाँ इतनी योग्यता प्राप्त कर ली कि एक संस्था का भार सम्भाल सकें। उनकी तत्परता और कर्मपरायणता से उनकी लोकप्रियता बढ़ती गई। जहाँ जातीं वहाँ एक क्षण के लिए भी परायापन न रहने देतीं। उनके सुख-दुख में मिल जातीं और सबको अनुभव होता कि जैसे यह उनकी अपनी आत्मीय ही हैं। इस गुण ने उन्हें हर परिस्थितियों में सम्भाले रखा और कभी अवसर न आया कि वह अपने एकाकी भाग्य को लेकर उस पर चिन्ता कर सकें। मानो सब कहीं उनसे सहारा माँगा गया और अनेकों के लिए अन्त तक वह आश्रय बनी रहीं।

मैं आश्रम में कोई छः साल रहा। आश्रम रेल से २५ मील और पक्की सड़क से आठ मील दूर एक जंगल में था। माता जी वहाँ छुटे-छुमाड़े पहुँच पातीं। उस समय की मुझे अब तक याद है। वह मेरी माँ थीं लेकिन आश्रम के साठ-सत्तर हम सभी बालक उन्हें माँ मानते थे। और जब वह कुछ लातीं तो सबके लिए लातीं थीं। वीरेन्द्र को बहुत दिन बाद जाकर पता चला कि उसकी माँ दूसरी है। मेरे साथ वह माँ को माँ और मामी को मामी कहता था। वीरेन्द्र एक बार बीमार पड़ा। बीमारी चिन्ता का कारण बन आई। माँ उन दिनों इन्दौर के आश्रम की अधिष्ठात्री थीं। पता लगते ही आईं और फौरन वीरेन्द्र को आश्रम से ले गईं और जब तक उसे पूरी तरह आराम नहीं हो गया, शायद पूरे दो हफ्ते तक मेरठ में अकेली उसकी तीमारदारी में बनीं रहीं। जीवन के दूसरे कार्य में वह कभी इतनी नहीं भूलीं कि सेवा और स्नेह के अवसर पर वह चूक जाएँ। सन् अठारह में मैं आश्रम छोड़कर चला आया। उस समय माँ दिल्ली के महिला-आश्रम की संचालिका थीं। आश्रम का सब भार उन पर था—शिक्षण का, व्यवस्था का और अर्थ-संचय का भी। मुझे आते ही उन्होंने पढ़ने के लिए अपने से दूर भेज दिया। मैं उनका एकलौता बेटा था। मुझ पर उनका लाड़

कम न था, लेकिन सदा वह उसे काबू में रखना जानती थीं। मैं पढ़ने के लिए बिजनौर चला गया। मैट्रिक का इम्तिहान देने के लिए दिल्ली लौटा। उस समय की बात याद है, माताजी चुस्त जैन थीं। मैं इधर असावधान हो चला था। मन्दिर जाना छूट गया था और रात में भी भोजन कर लेता था। माँ ने कभी कुछ न कहा, लेकिन कभी घर पर रात हो जाने पर खाना भी मुझे नहीं दिया। बड़ी प्रतीक्षा में रहतीं, लेकिन दिन ढल जाता और पहुँचते मुझे अँधेरा हो जाता तो भोजन वह उठाकर रख देतीं, कहतीं—ले अब फल और दूध ही तुम्हें मिल सकता है। मुझे यह खाने में रात-दिन का भेद महत्त्व का न लगता। लेकिन माँ रात हो जाने पर पानी तक का घूँट न लेतीं और जब मुझे मालूम होता कि मेरी प्रतीक्षा में उन्होंने स्वयं भी नहीं खाया है और अब रात-भर बिना पानी उन्हें रहना होगा और अगले दिन दस बजने से पहले शायद ही उनके मुँह में कुछ पहुँच सके तो मैं अन्दर लुखी हो आता। माँ के कहने का ढंग यही था। वह ऊपर से शिक्षा के तौर पर कुछ न कहती थीं। अपने दुख के जरिये मानी कह पाती थीं। शायद यही उनकी शक्ति का कारण था।

एक बार की बात है। मेरे मन के एक निश्चय का उन्हें पता चला। उन्होंने कहा कुछ नहीं, दो-तीन रोज निकल गये। एक दिन रात को अकेले में ग्यारह बजे धीमे से पूछा—‘बेटा, यह तेरा निश्चय है।’ बहुत धीमे पूछा था। मैंने कहा—‘हाँ माँ, और क्या हरज है इसमें?’ माँ ने कुछ उत्तर नहीं दिया। वह मुझे देखती रहीं। देखते-देखते उन आँखों में आँसू आये और हाथों में मुँह लेकर वह मेरी गोद में गिर पड़ीं और फफक-फफक कर रोने लगी। दूसरी कोई भी बात नहीं हुई। आखिर मैंने गोद से उन्हें उठाया। कहा—‘तुम्हें इतना दुख है तो वह नहीं होगा माँ। पहले तुमने क्यों नहीं कहा।’ माँ ने तब मुझे झुकाकर अपनी गोद में ले लिया और वह प्रकरणा शान्त हुआ।

यह था, किन्तु उनकी दृढ़ता और साहस का ठिकाना न था। उनके महिला-आश्रम की व्यवस्था में विरोध पड़ गया। पुरुषों की समिति एक

ओर, माता जी के नेतृत्व में स्त्रियाँ दूसरी ओर। पुरुषों ने संस्था का सब रूपया रोक लिया, और असहयोग ही नहीं किया, निन्दा और विरोध तक किया। चालीस से ऊपर संस्था में रहने वालों की संख्या। पैसा एक भी नहीं। आमदनी के रास्ते बन्द। बाहर विरोध और लांछन का तूफान। लेकिन ऐसे समय माता जी अडिग रहीं। मन में क्षण को हार न लाई, न अपना भरोसा छोड़ा और अन्तकाल तक सिर्फ अपने बल-बूते पर उस संस्था को जीवित रखे रहीं।

सन् तीस में मैं जेल गया। उन्हें मालूम हो गया कि आज कैदी यहाँ से बाहर भेजे जा रहे हैं, और अमुक स्टेशन से उन्हें सवार किया जायगा। देखा, माता जी वहाँ मौजूद हैं। मौजूद ही नहीं, पूरी व्यवस्था के साथ हैं। उन्होंने आगे बढ़कर पुलिस सब-इन्स्पेक्टर से बात की और जाने वाले हम सब कैदियों का सत्कार किया। सबको खूब मिठाई फल दिये। रेल आई और चलने लगी तो उन्होंने राष्ट्रगान आरम्भ किया। 'उस' समय की उनकी मुद्रा भूलती नहीं है। कंठ उनका बकता था, वाणी अव-बद्ध होती थी। आँखों में पानी था। लेकिन होठों पर उनके राष्ट्रगान था, और बघाई थी। रेल के साथ वह धीरे-धीरे बढ़ रही थी और आँख मुझ पर टंकी थी। वह आँखों से रोती और मुँह से हँसती मुद्रा कैसे मैं भूल सकता हूँ।

गुजरात जेल में वह मुझसे मिलने आई। बहन साथ थी और पत्नी, जिसकी गोद में एक महीने का बच्चा था। डाक गाड़ी वहाँ बस नाम के लिए ठहरती थी। हुआ यह कि बच्चे को कुली के हाथ में दे जल्दी में पत्नी ही एक उतर सकी और गाड़ी चल दी। माताजी ने जन्जीर खींची और गाड़ी इस बीच में टाई फर्लांग—

यह सहज और प्रत्युत्पन्न बुद्धि उन्हें सदा प्रस्तुत रही। वीरेन्द्र के विवाह का प्रश्न आया। बिरादरी विरुद्ध थी। उस तरह के विरोध और

प्रतिरोध नजर आए। मैं उस समय नादान था और पग-पग पर चकरा उठता था। बड़े-बूढ़ों से कैसे पार पाना, यह समझ न आता था। लेकिन माताजी की दक्षता और कुशलता विलक्षण थी। अन्त में देखा कि जो विरोधी थे वही आगे आकर काम को सम्भालने वाले बन गए। विरादरी के गिनती के घर थे। माता जी स्वयं एक-एक में गईं और अन्त में देखा सबका मान रह गया है और सबका सहयोग मिल गया है।

सन् पैंतीस में पत्र पाकर मैं लौटा तो देखा माताजी खाट से लगी हैं ? उन्होंने बीमारी की कोई सूचना न दी थी। कहती रही थीं कि रहने दो। मुझे क्या हुआ है। बाल-बच्चे सैर करने गये हैं। क्यों लिखते हो। आते ही देखा, रोग जलोदर है, मैं चिन्ता में पड़ा। किन्तु कुछ न किया जा सका। डॉक्टर की दवा नहीं दी जा सकी। विदेशी दवा का उन्हें त्याग था। और भी जो नियम थे, अन्त तक उन्हें पालती गईं। अन्त समय कष्ट बहुत था। कै-पर-कै होती थी, प्यास बेहद लगती थी। पर सन्ध्या होने के बाद कुत्ला तो वह कर लेती, लेकिन रात में पानी एक बूँद गले से नीचे नहीं उतार सकती थीं। क्योंकि उन्हें त्याग था।

गर्मी उन्हें बेहद लगती थी। लेकिन ज्वर भी था। बार-बार रजाई ऊपर से अलग करतीं और मैं फिर लेकर उन्हें ढक देता। वह फिर उवाड़ लेतीं। मैंने क्रोध में कहा—‘क्या करती हो, ओढ़ लो।’ माँ की आँखें मुझ तक उठीं। आँखों में प्रार्थना थी और जाने कितनी ममता थी। वे मृत्यु से सिर्फ दो मिनट पर थीं। कातर होकर बोलीं—‘बेटा’ ! मैंने नाराजी में रजाई को उन पर पकड़े रखा। ‘बेटा छोड़ दे, गर्मी बहुत है,’ कहकर उन्होंने रजाई को अपने ऊपर से फेंक देना चाहा, जो नहीं हो सका, क्योंकि मैं उसे कसे हुए था। आँखें प्रार्थना में मेरी ओर रहीं और उसके डेढ़ मिनट बाद उन्होंने साँस तोड़ दिया।

आखिरी याद मुझे सदा यह चुभती है, पर सारी ही याद चुभती है; क्योंकि जीवन-भर उनसे मैं स्नेह ही पाता रहा, पर उन्हें कष्ट ही देता रहा। किसी तरह का आश्वासन उनके जीवन-काल में मैं उन्हें न पहुँचा सका।

जैनेन्द्रकुमार की मौत पर

जैनेन्द्रकुमार की याद में कुछ कहना मेरे लिए खुशी की बात नहीं है । सन् '४४ के नये साल का यह शुरू है । सन् '०५ में जैनेन्द्रकुमार ने जन्म लिया । अभी दिन न थे कि वह याद के ही लिए रह जाता और उस पर कहने की जरूरत होती । उसे अभी बनना था । अभी उसे जीना, लिखना, कुछ करना था । पर अफ़सोस कि वह जिन्दगी बन्द हुई जिससे उम्मीदें बाकी थीं । लेकिन जहाँ आदमी का बम न हो वहाँ अफ़सोस भी किस वास्ते ? इससे आइये उसकी आत्मा के लिए अब हम शान्ति पावें ।

और शान्ति की उसे जरूरत हो आई थी । वह परेशान रहने लगा था । काजी को पहले शहर का अन्देशा हुआ करता था । लेकिन अटब आगे बढ़ गया है और शहर छोटी चीज़ रह गई है । जैनेन्द्र दुनिया के अन्देशे से परेशान था । परेशानी उसकी पेशानी की लकीरों में, बेहाल हाल में, यहाँ तक कि लिबास में भी दीखती थी । इस तरह उसकी खुद की तरफ़ से शायद कहा जा सके कि उसका मरना बुरा या समय से पहले नहीं हुआ । उमर नहीं थी, पर अन्दर से वह पुराना हो चला था । जमाने के साथ न था, उस पर हैरान था । चुनांचे जमाना उसे भूलने लगा और आगे बढ़ गया था । जैनेन्द्र सोचने लग गया था कि उसकी हस्ती यहाँ किस हक़ से और किस जरूरत के लिए है । यह सवाल अलामत है कि जिन्दगी उसमें ढल चली और बुझा चाहती थी । आखिर उस सवाल को पूरा जवाब मिला इस शक़ में कि वह अब नहीं है ।

यकीन कीजिये कि सब मिलाकर आदमी वह बहुत अजीब न था। फैली कहानियों पर कान न दीजिये। कहानियों में कुछ-का-कुछ बन जाया करता है। वह खुद भी तो कहानियाँ गढ़ता था। इससे कहानियों के फ़रेब को समझता था। किसी कदर उन कहानियों के फ़रेब पर जिन्दा भी रहता था। कहा करता था कि 'मेरी लिखाई से लोग मुझे नेक तक मान लेते हैं। चलो अच्छा है, ऐसे नेकी फैलती और बदी मुझ तक मिमटी रहती है।' लेकिन इस लीपापोती के बावजूद मैं आप से मान लेने को कहता हूँ कि आदमी वह एकदम बुरा न था। एक तो वजह यह कि असल में आदमी कोई भी बुरा नहीं होता। दूसरा यह कि जानते-बूझते कोशिश उसकी बदी से बचने की रहती थी जैसे कि हर इन्सान की रहती है।

शुरू से जैनेन्द्र में इरादे की ताकत की कमी देखी जा सकती है। वह क्रिस्मत बनाने वालों में से न था, क्रिस्मत ही उसे बनाती गई। जिन्दगी में उसके कोई कारगुजारी नज़र नहीं आती। एक मद्धम बहाव में वह जिन्दगी बहती चली गई। एक भटके, निरीह बालक की तरह उसके छुटपन के दिन गुज़रे। वह मौन-सा सब ओर देखता और कभी अपने लिए फ़ैसला करने की ज़रूरत न समझता। अंग्रेज़ी में जिसे half-wit कहते हैं कुछ वही कैफ़ियत समझिये। अन्तरज में बौखलाया वह अपने साथियों के बीच रहता था और साथी सिर्फ़ उसे गवारा करते थे। अपनेपन का और अपनी जगह का उसे पता न था। क्लास में किसी सब्जेक्ट या साल में पहले नम्बर आ गया तो दूसरे किसी में एकदम पिछड़ रहा। तावजुब है कि फ़ेल वह किसी दर्जे में नहीं हुआ। पर पास होता गया तो अपने बावजूद। सदा एक खोये और भूले हुए दब में वह रहता था और दुनिया उसे बाहर और अन्दर चारों तरफ चक्कर में तैरती हुई मालूम होती थी जिसमें कुछ उसकी समझ की पकड़ में न आता था। घूम-फिर कर एक ही सच्चाई उसके लिए रह जाती थी—वह उसकी माँ।

चलिये ऐसे मैट्रिक हो गया और वह कॉलिज में पहुँचा। और कॉलिज भी छूट गया और वह दुनिया में आ पड़ा। पर दुनिया से उसकी किसी

तरह की जान-पहचान न थी। समुन्दर की लहरों पर तिनका तैरता है, क्योंकि हलका होता है। उसमें भी कहीं किसी तरफ से वजन न था और बरसों लहरों पर वह इधर-उधर उतराया किया।

कल्पना में लाइये एक तेईस घरम के जवान को। उसमें जिस्म होना चाहिए, हौमला होना चाहिये, इरादा होना चाहिए। आँखों में उसके रोशनी और कदमों में धमक होनी चाहिए। पर जैनेन्द्र का खाका ही और था। हल्का-दुबला जिस्म, हौसला गायब और इरादा लापता। आँखों में उसके बेगानगी थी और कदमों में कोई मिम्त न थी।

हकीकत तमाम उसके तई बस एक भरकज में समाई थी—यानी, उसकी माँ। देखता कि माँ की आँखों में चिन्ता बढ़ती जाती है। तब सोचता कि कुछ करना होगा। पर सोचने में समय ही निकलता, और होने में कुछ न आता। जहाँ कुछ किया जाता है वह दुनिया उसे तिलिस्म थी। और इकला पड़कर आदमी सोच ही सकता है, कर कुछ नहीं सकता।

रातों जग कर आखिर एक दिन हिम्मत बाँधी। कहा—“माँ, पचास रुपये तो दो।”

माँ बोली—“पचास रुपये।”

उसने देखा कि माँ की आँखों में तकलीफ है। देखकर उसने अपने को बेहद धिक्कारा। लेकिन कहा—“हाँ, माँ, कलकत्ता जाऊँगा।”

माँ ने दुहराया—“कलकत्ता!”, और आगे कुछ नहीं कहा।

बेटा मन थामकर बोला—“वहाँ से, माँ, जल्दी ही नौकरी लगाने की खबर दूँगा।”

रुपये मिले और कलकत्ते में नौकरी की तलाश हुई। पचीस रुपये का काम मिल जाय तो बहुत है। पर ऐसे टूटते रहे, नौकरी नहीं मिली। पक्का था कि लौटेंगे नहीं। माँ को तकलीफ देने से मर जाना अच्छा। पर बेटे के दूर परदेश में जाकर मरने में माँ को कौन बड़ा सुख हो जाता। इससे पास के ऐसे पूरी तरह निचटें कि जैनेन्द्र बैरंग वहीं माँ के पास लौट आये।

यह घटना जैनेन्द्र के व्यक्तित्व का सही माप आपको दे सकती है।

मिलने-जुलने और दुनिया में राह बनाने की उनमें लियाक़त न थी। वह चीज़ बिल्कुल न थी जिसका असर और रोच पड़ता है। ऐसे आदमी के पास सपने ज़रूर कुछ जमा हो जाया करते हैं। पर सपनों में दम नहीं होता और असलियत के आगे वे छूमन्तर हो रहते हैं।

यह तो अनहोना ही हुआ कि जैनेन्द्र ने लिखा। लिखने के नाम यूँ तो उन्हें बुखार चढ़ता था। पढ़ा तब तक लिखने से वंचते रहे। कॉलिज के पहले साल में एक बार फ़ैसल जो लिखना पड़ा तो बस न पूछिए। प्रोफ़ेसर ने देखा कि यह लड़का टालता ही जाता है, लेख कभी लिखकर नहीं लाता। जैनेन्द्र ने प्रोफ़ेसर की निगाह ताड़ी। फिर तो बड़ी फ़िक्र के साथ कहीं से एक तो कहीं से दो पैराग्राफ़ लेकर कई किताबों से जोड़-जोड़कर लेख तैयार किया। जहाँ-तहाँ से जुमलों को सही से ग़लत लिखा कि पता न चले। मन में सोचा कि प्रोफ़ेसर कायल हो जायगा। क्लास में प्रोफ़ेसर ने एक नाम पुकारा और उस लड़के को दिखाकर उसके निबन्ध की बहुत तारीफ़ की। फिर जैनेन्द्र की पुकार हुई। उसकी छाती फूल आई।

प्रोफ़ेसर ने कहा—‘बेन्च पर खड़े हो जाओ।’

सौ से ऊपर लड़कों की निगाहें उन पर जमीं और वह बेन्च पर खड़े हुए।

तब प्रोफ़ेसर ने उन्हें दिखाकर कहा—‘ऐसे बेवकूफ़ भी कॉलिज में आ जाते हैं कि...’

तसल्ली की बात है कि उस वक्त जैनेन्द्र का नाम जैनेन्द्र न था। और आगे जाकर एक खास मौक़े पर उन प्रोफ़ेसर का जैनेन्द्रकुमार से परिचय कराया गया। उससे प्रोफ़ेसर की इज़ाजत कम नहीं हुई। पर उन्हें गुमान न हुआ कि यह वही लड़का है। और जैनेन्द्र को खुद मेद खोलने की जरूरत क्या थी। खैर...लेकिन जैनेन्द्र के मन में उस हादसे की शर्म गहरी बैठ गई थी। सपने में भी नहीं सोचते थे कि लिखेंगे। पर उनके एक मित्र, चिन्दगी की ऊँच-नीच में से गुज़रते, एक प्राइमरी स्कूल में मास्टर हुए। स्कूल था कुल चार जमात तक। पर शौक़ देखिए कि वहाँ से मास्टर साहब

ने हाथ का लिखा एक मासिक निकाला। पाँचके महीने में मित्र को वहाँ से भी किनारा मिला। आते वक्त पत्र की कापियाँ वह साथ बाँधते लाये। बच्चों का तमाशा—जैनेन्द्र तक को उसमें लिखने में क्या भिन्न होती। पर करिश्मा यह हुआ कि उस चटसाल के बच्चों के खिलौने से पत्र में लिखे दो किस्से हिन्दी के उस वक्त के सबसे मशहूर रिताले में छपे हुए जैनेन्द्र के देखने में आ गए। जैनेन्द्र इस पर हैरत में थे क्योंकि कुसूर उनका न था। पर इस तरह जीने लायक रास्ता जरूर उन्हें दीख आया।

जैनेन्द्र की जिन्दगी में बड़े उतार-चढ़ाव नहीं आये। वह कुछ बँधी जिन्दगी रही जिसमें लहरें उठीं तो बाहरी हवा की थपेड़ पर, नहीं तो जिसकी सतह जाहिरा सोई पड़ी रही। न गहरे राज की बात उसमें दिखाई देती है। जिन्दगी वह मामूली आदमी की है और उसमें रोमानी रंग की रौनक नहीं है। जैनेन्द्र ने ज्यादा नहीं लिखा जिसकी वजह एक आदमी जानना चाहेगा। क्या यह कहना ज्यादा होगा कि भागते वक्त को पकड़ने लायक जाग और फुरती उनके दिमाग में न थी? या यह कहा जाय कि उनके अन्दर का जखीरा ही थोड़ा था? पर इतना सही है कि जो लिखा औसतन अच्छा लिखा। भाषा का उन्हें खास ज्ञान न था, इससे शुरू में उनकी भाषा अटपटी समझी गई। पर आगे जाकर यह अज्ञान शायद भला साबित हुआ। क्योंकि इससे भाषा के जरूरत से ज्यादा दुस्त होने का खतरा भी नहीं रहा। आम शिकायत है, और ठीक है, कि जो खुशबयानी, ताजगी और खिलावट शुरू में देखने में आई वह उनके लिखने में पीछे न रही। रवानी थम चली, ताजगी पक आई, और खुशनुमा खिलावट की जगह भारी-भरकम संजीदगी लेने लगी। अपनी अपनी पसन्द है; लेकिन नीति और उपदेश और विचार के बोझ से भारी होने के कारण रचना उनको प्यारी न लगे तो इसमें शिकायत की वजह नहीं है। पिछले जैनेन्द्र को और उनकी रचनाओं को कोशिश के साथ ही प्यार किया जा सकता है। पर इसमें शक है कि जिसमें कोशिश दरकार हो उसे प्यार ही कहना चाहिये।

उनके लिखे चार उपन्यास हैं, कुछेक कहानियों की जिल्दें और दो-एक और किताबें। अनछुपी और अधलिखी चीजों की बात की नहीं जा सकती। इस सब साहित्य में आदमी के मन के भेदों को खोजा गया है और उलझनों को खोलने की कोशिश है। व्यक्ति को परिधि मानकर खाल जमाये और बूझे गये हैं। पर इस तरह असल सचालों का हल मिलेगा ऐसा नहीं मालूम होता। सवाल एक के मन का नहीं, सारे समाज के निजाम का है। समस्याएँ रोटी-कपड़े की हैं। दिक्कतें असली हैं और जैनेन्द्र का साहित्य खयाली है। पढ़ने में वह उलझाता और इसी से किसी कदर अच्छा लगता है। भावनाओं को कुछ उभार भी वह देता है। पर क्या वह बल और प्रकाश भी देता है? समस्या को उपजा देना और उसका हल सुझाने में बचना बड़ा आर्ट नहीं है। जैनेन्द्र की रचनाओं में यही है और हमारी जरूरत कुछ दूसरी है। इन्सान हवाई नहीं है। मगर शक होता है कि जैनेन्द्र हवाईयत की तरफ बढ़ने में लगे रहे। इन्सान से दूर जाकर आर्द्ध-डियल भला कहाँ बैठा है? लेकिन उनकी किताबों में इन्सानी कैरेक्टर और जिस्म बराबर कम ही होता चला गया। यहाँ तक कि गोया अपनी आर्टिस्टिक ईमानदारी में, वह खुद भी अपने कैरेक्टर और जिस्म में खूबते चले गये। आदमी अपने खयालात का अक्स होता है।' इस लिहाज से क्या यह कहना होगा कि जैनेन्द्र के खयाल उनकी जिन्दगी और सेहत की तरह किसी कदर पस्त और ब्रेडम थे?

उनकी फ़िलासफी जाननी हो तो दो लेखों के नाम सुनना काफी है। एक लेख उनका है—'अधुद्धिवाद'। यानी, जिन्दगी को अकल से चलाना बेअकली है और शुतुरमुर्ग के रेत में सिर गाड़कर दुश्मन के हाथ आसानी से मर जाने के तरीके को ग़लत कहना ग़लती है। दूसरा है—'कमाई और भिखारी' जिसमें वह कहते हैं कि कमाने से भीख माँगना पेट भरने का बेहतर ढङ्ग है। इस फ़िलासफी पर कुछ न कहना ही अच्छा है।

उसूल एक चीज है और मुहब्बत उससे बिलकुल जुदागाना है। हरि-याली मुहब्बत में से सिंचकर तैयार होती है। उसूलों की दुनिया में और

सब दुःखस्त होता है, सिर्फ वहाँ जिन्दगी नहीं होती। मालूम होता है कि जैनेन्द्र पीछे उसूलों के फेर में घिरते चले गये और जिन्दगी का पल्ला उनसे छूटता चला गया।

ताहम उनकी तारीफ़ करनी होगी। उन्होंने खल नहीं बदला। वक्त के आगे सिर नहीं ख़म किया। टेक जो पकड़ी अखिर तक निबाही। आस-पास की स्थिति से समझौता नहीं किया। इसमें भी एक आन है। रस्ती जल जाती है, पर पेंटन नहीं छोड़ती। इसका मतलब बुरे माइनों में लिया जा सकता है। लेकिन उसमें एक खूबी भी है। जैनेन्द्र अपने से दूर नहीं गये, बाहर तक नहीं आये। अपनी खुदी में चाहे डूब ही जायें, खुदारी को उन्होंने नहीं छोड़ा। खुदी और खुदारी में जो फ़रक है उसकी पहचान अगर उन्हें नहीं हुई तो कहा जा सकता है कि वह पहचान बहुत मुश्किल है और बहुत बड़े-बड़ों को नहीं हो पाती। पर यह भी तो एक बात है कि दूसरों की सब सुनी जाय और रखी अपने मन की ही जाय।

जैनेन्द्र की किताबों को चुपचाप नहीं लिया गया। उनकी तारीफ़ हुई और निन्दा हुई और दोनों साथ हुई। उनसे साहित्य में कुछ सरगमीं दिखाई दी। लेकिन इसका नतीजा जैनेन्द्र के हक में कुल मिला कर अच्छा हुआ, यह नहीं कहा जा सकता। हो सकता है कि इससे उनके बैलेन्स में फ़रक आया। जैनेन्द्र के एक हितैषी ने कहा था कि 'लिखना शुरू किया तब जैनेन्द्र लड़का था; पर एक किताब छपी कि बुजुर्ग बन गया।' इसको तुह-मत समझा जाय तो भी इसमें कुछ सच्चाई तो है ही।

कुछ दिन की बात है कि जब उनका अन्त पास आ रहा था। एक मित्र ने कहा—'जैनेन्द्र, हमारी दुनिया के जीते-जागते सवाल को लेकर अपनी कलम चलाओ।' जैनेन्द्र ने कहा—'मैं लेखक नहीं हूँ। इस लायक नहीं हूँ कि तुम्हारी कुछ माँग उठा सकूँ।' कहा गया—'तुमसे उम्मीदें हैं, माई ! समाज के लिए उपयोगी हो कुछ ऐसा लिखो।' उसने कहा—'समाज ! मैं उसको नहीं जानता हूँ।' और कहकर ऐसे भाव से मित्र को देखा कि वह पानी हो आये, बोले—'तो जाने दो, भाई ! जो चाहे लिखो,

पर लिखो जरूर । बरसों से कोई नई किताब तुम्हारी सामने नहीं आई !' उसने कहा—'मुझमें लिखने की तबीयत अब बुझ गई है ।' मित्र इस जवाब पर जैनेन्द्र को देखते हुए चुप रह गये । सोचने लगे कि दिन कहीं बुरे तो नहीं आ रहे हैं ।

इस तरह देखते जैनेन्द्र की मौत अचानक ही नहीं हुई । मानो वह होनहार ही थी । धीमे-धीमे जैनेन्द्र खुद उधर जा रहे थे । पर इससे उनके उठने से हमारा सदमा कम नहीं हो जाता । जो हो, अब वह नहीं है । उनको हमने प्रशंसा दी है, आलोचना भी दी है । पर जीते जी उन्हें कभी और भूल स्नेह की थी । उनकी स्मृति के प्रति अब भी हम स्नेह ही दें । और सुनते हैं परलोक में स्नेह के सिवा दूसरा कुछ पहुँच भी नहीं पाता है !

नेहरू और उनकी कहानी

जवाहरलाल जी का जीवन-चरित मैंने मूल अंग्रेजी में पढ़ा है। हिन्दी अनुवाद को जहाँ तहाँ से एक निगाह देख सका हूँ। मूल में क्या और अनुवाद में क्या, पुस्तक तो जवाहरलाल जी की आत्म-कथा है। उधर ही हमारा लक्ष्य रहना चाहिए।

जो जवाहरलाल जी राजनीति के आँगन में दीखते हैं, वही इस चरित में घनिष्टता से व्यक्त होते हैं। राजनीति में उनके व्यक्तित्व की एक भाँकी दीखती है। वहाँ, वह आज और कल में बँटे हुए हैं। पुस्तक में उनके व्यक्तित्व का वह संचित समग्र रूप व्यक्त हुआ है जो बँटा हुआ नहीं है—जो उनके आज और कल को एक सूत्र में पिरोए रखता है। जवाहरलाल का जो व्यक्त रूप है उसकी विविधता को कौन से जीवन-तत्त्व थामे हुए हैं, उसके भीतर आत्मा क्या है,—इसी को जानने और खोलने का यत्न पुस्तक में है। जिन्दगी की घटनाओं का वर्णन नहीं है,—उस जिन्दगी का सिद्धान्त पाने की कोशिश है।

अनुवाद में पुस्तक का नाम 'मेरी कहानी' है। हमारा बीता हुआ जीवन हमारे निकट 'कहानी' हो जाता है। बीती घटनाओं के प्रति हममें वासना शेष नहीं रहती, केवल भावना रहती है। उस भावना में रस रहता है, वासना का विष नहीं रहता। इसीलिए, बहुत पहले की जिन्दगी का शत्रु अन्त में हमारा शत्रु नहीं रहता। आगे निकलकर शत्रु-मित्र कुछ रहता ही नहीं—वहाँ से स्वयं अपने ही दर्शक बन जाते हैं। साधारणतया जीवन

में हम ही अपने प्रदर्शक होते हैं,—अपने को दिखाते चलते हैं और अहंकार में से रस लेते रहते हैं। पर, अगर हम बारा अपने ऊपर ही आँखें मोड़कर देखना शुरू करें तो दृश्य भी बदल जाता है, हमारा चित्र भी बदल जाता है। तब, जीवन का अर्थ हम स्वयं नहीं रहते। मालूम होता है, हम बस यात्री हैं और उस यात्रा-पथ को चिह्नित कर जाना ही हमारा उद्देश्य था जो हम करते चले आए हैं।

इस तरह बड़ी-से-बड़ी बात 'कहानी' हो जाती है, और कोई घटना अपने-आप में महत्त्वपूर्ण अथवा सम्पूर्ण नहीं रह जाती। मालूम होता है छोटी चीज क्या, बड़ी चीज क्या, सब बस उतने अंश में अर्थ-पूर्ण है कि जितने में वह हमारी पथ-यात्रा में सहायक अथवा बाधक हुई है, अन्यथा वह नहीं जैसी है।

जवाहरलाल का आत्म-चरित आरम्भ से ही काव्य-सा लगता है। अपना वचन, अपना युवाकाल,—लेखक सब एक मधुर तटस्थता से देखते और लिखते गए हैं। मानो, उस अतीत से उनका नाता तो है, पर लगाव नहीं रह गया है। वह अपने ही अभिनय के एक ही साथ दर्शक भी हैं।

जहाँ पुरानी याद छिड़ गई है, और जहाँ आलोचना है, वहाँ वह स्थल अपना ही मधुर काय-पा जान पड़ता है। वहाँ साहित्य की छटा है, और ऐसे स्थल पुस्तक में कम नहीं हैं। इस प्रकार, पुस्तक शुद्ध साहित्य भी है। साहित्य का लक्षण है, वह वेदना की वाणी जो निरी अपनी न हो, अर्थात् प्रेम की हो। वैसी वेदना पुस्तकों में पर्याप्त है। वह ही उसे साहित्य बनाती है।

उस वेदना को हृदयंगम करके हम फिर तनिक जवाहरलाल की जीवन-धारा की ओर मुड़ें और स्रोत पर पहुँचें—

युवा नेहरू ने जीवन में प्रवेश किया है। उत्साह उसके मन में है, प्रेम और प्रशंसा तथा सम्पन्नता उसके चारों ओर है और सामने विस्तृत जीवन के अनेक प्रश्न हैं,—अनेक आकांक्षाएँ और भविष्य की यवनि का शनैः-शनैः खुलने की प्रतीक्षा है। अभी तो वह अज्ञेय है, अंधेरा है।

जवान नेहरू आशा से भरा है। आशा है, इसीलिए असन्तोष है। भविष्य के प्रति उत्कण्ठा है, क्योंकि वर्तमान से तीव्र अतृप्ति है। वह विलायत में रहा है, वहीं पला है। जानता है, आजादी क्या होती है। जानता है, जिन्दगी क्या होती है। साहित्य पढ़ा है और उसके मन में स्वप्न हैं। लेकिन, अब यही आदमी हिन्दुस्तान में क्या देखता है ? देखता है गुलामी ! देखता है गन्दगी !! देखता है निपट गरीबी !!! उसके मन में हुआ कि यह क्या अन्धेरे है ? यह क्या ग़बब है ?—उसका मन छुटपटाने लगा। ऐसे और भी युवा थे जो परेशान थे।—जहाँ-तहाँ राष्ट्रीय यत्न चल रहे थे। वह इधर गया, उधर मिला, पर कहीं तृप्ति नहीं मिली। ये लोग और ऐसे स्वराज्य लेंगे !—वह अशान्त रहने लगा। जिनका प्रशंसक था, उन्हीं की आलोचना उसके मन में जागने लगी। वह युवक था आदर्शोन्मुख, अधीर, सम्पन्न और विद्वान्। वह कुछ वह चाहने लगा जो वास्तव इतना न हो जितना स्वप्न हो। पर स्वप्न तो आशरीरी होता है और मानव सशरीर। स्वप्न भला कब-कब देह धारण करते हैं ? लेकिन इस जवाहर का मन उम्मी की माँग करने लगा। उसके छुटपटाते मन ने कहा कि ये उदार, नरम लिबरल लोग बूढ़े हैं। ये क्रान्तिकारी लोग बच्चे हैं। होमरूल में क्या है ? समाज-सुधार से न चलेगा। ये छोटे-छोटे यत्न क्या काम आदेंगे ?—अरे ! कुछ और चाहिए, कुछ और !—बैरिस्टर जवाहर की सम्पन्नता और उसकी पढ़ाई ने उसमें भूख लहकाई—कुछ और, कुछ और !!

और जवाहरलाल को वह 'कुछ और' भी मिला। स्वप्न चाहता था, वह स्वप्न भी मिला। जवाहरलाल को गाँधी मिला !

जवाहरलाल ने अपने पूरे बल से गाँधी का साथ पकड़ लिया। साथ पकड़े रहा, पकड़े रहा। पर गाँधी यात्री था। जवाहर ने अपने रास्ते पर गाँधी को पाया हो और, इस तरह, उसे अपने ही मार्ग पर गाँधी का साथ मिल गया हो, ऐसी तो बात नहीं थी। इसलिए थोड़ी ही दूर चलने पर जवाहरलाल के मन में उठने लगा, 'हैं, यह क्या ! मैं कहाँ चला जा रहा हूँ ? क्या यही रास्ता है ? यह आदमी मुझे कहाँ लिए जा रहा है ? है यह

आदमी अनोखा, सच्चा जादूगर। लेकिन, मुझे तो सँभलना चाहिए।'

गाँधी का साथ तो पकड़े रहा, लेकिन शंकाएँ उसके मन में गहरा घर करने लगीं। फिर भी जब साथ पकड़ा, तो छोड़ने वाला जवाहरलाल नहीं, हो जो हो। और वह अपनी शंकाओं को अपने मन में ही घोंट-घोंटकर पीने का यत्न करने लगा।

उसके मन में क्लेश हो आया। शंकाएँ दावे न दबती थीं। उसने आखिर लाचार हो जादूगर गाँधी से कहा—'ठहरो, जरा मुझे बताओ कि यह क्या है ? और वह क्या है ? आओ, हम जरा ठहरकर सफ़र के बारे में समझ-बूझ तो लें।''

गाँधी ने कहा—यह तो यह है; और वह वह है। मैं जानता हूँ सब ठीक है। पर ठहरना नहीं, चले चलना है।

जवाहर ने कहा—ठहरो, अच्छा सुनो तो। बिना समझ-बूझ मैं नहीं चलूँगा

गाँधी ने कहा—यह बहुत जरूरी बात है। जरूर समझ-बूझ लो। लेकिन मैं चला।

गांधी रुका था कि चल पड़ा। जवाहर ने कहा—चलने में मैं पीछे नहीं हूँ। लो, मैं भी साथ हूँ। लेकिन, समझूँ-बूझूँगा जरूर।

गांधी ने चलते-चलते कहा—हाँ—हाँ, जरूर !

लेकिन, जवाहरलाल की मुश्किल तो यह थी कि गांधी का धर्म उसका धर्म नहीं था। गांधी बड़ी दूर से चला आ रहा था। जानता था कि किस राह जा रहा हूँ, क्यों और कहाँ जा रहा हूँ। जवाहरलाल परेशान, जाने के लिए अधीर, चौराहे पर भौंचक स्वप्न-दूत की राह देख रहा था। उसने कोई राह नहीं पाई थी कि आया गांधी, और जवाहर उसी राह हो लिया। पर उस राह पर उसे तृप्ति मिलती तो कैसे ? हरेक को अपना मोक्ष आप बनाना होता है। इससे अपनी राह भी आप बनानी होती है। यह तो सदा का नियम है। इसलिए, चलते-चलते एकाएक अटक कर जवाहरलाल ने गांधी से कहा—नहीं, नहीं, नहीं ! मैं पहले समझ लूँगा और बूझ लूँगा। सुनो, विज्ञान का, इकोनॉमिक्स का यह कहना है और पॉलिटिक्स का वह कहना है।

अब बताओ, हम क्यों न समझ-बूझ लें ?

गांधी ने कहा—ज़रूर समझ लो और ज़रूर बूझ लो । इकोनॉमिक्स की बात भी सुनो । पर रुकना कैसा ? मेरी राह लम्बी है ।

जवाहरलाल ने कहा—मैं फमज़ोर नहीं हूँ ।

गांधी ने कहा—तुम वीर हो ।

जवाहरलाल ने कहा—मैं हारा नहीं हूँ, चलना नहीं छोड़ूँगा ।

गांधी ने कहा—ठीक, तो चलो ।

वह यात्रा तो हो ही रही है । लेकिन जवाहरलाल के मन की पीड़ा बढ़ती जाती है । उसके भीतर का क्लेश भीतर समाता नहीं है । गांधी स्वप्न-पुरुष की भाँति उसे मिला । अब भी वह जादूगर है ।...लेकिन अरे ! यह क्या बात है ? देखो, पॉलिटिक्स यह कहती है, इकोनॉमिक्स वह कहती है । और गांधी कहता है, धर्म । धर्म ? दकियानूसी बात है कि नहीं ।... है गांधी महान्, लेकिन, आखिर तो आदमी है । पूरी तरह पढ़ने-सीखने का उसे समय भी तो नहीं मिला । इन्टरनेशनल पॉलिटिक्स ज़रा वह कम समझे, इसमें अन्धरज की बात क्या है ?...और हाँ, कहीं यह रास्ता तो गलत नहीं है ?...पॉलिटिक्स...इकोनॉमिक्स...लेकिन गांधी महान् है, सच्चा नेता है ।

जवाहरलाल ने कहा—गांधी, सुनो । तुम्हें ठहरना ज़रूर पड़ेगा । हमारे पीछे लाखों की भीड़, यह कांग्रेस, आ रही है । तुम और हम चाहे गड्ढे में जायें, लेकिन कांग्रेस को गड्ढे में नहीं भेज सकते । बताओ, यह तुम्हारा स्वराज्य क्या है जहाँ हम सबको लिए जा रहे हो ?

गांधी ने कहा—लेकिन ठहरो नहीं, चलते चलो । हाँ, स्वराज्य ? वह राम-राज्य है ।

—राम-राज्य । लेकिन हमको तो स्वराज्य चाहिए,—आर्थिक, राजनीतिक, लौकिक...

—हाँ-हाँ ! ठीक तो है । आर्थिक, राजनीतिक...पर धीमे न पड़ो, चले चलो !

धीमे ? लेकिन, आप का रास्ता ही गलत हो तो ?

सही होने की श्रद्धा नहीं है तो अवश्य दूसरा रास्ता खोज लो । मैं यह जा रहा हूँ ।

जवाहरलाल समझने-बूझने को ठहर गया । गांधी अपनी राह कुछ आगे बढ़ गया । जवाहरलाल ने चिल्लाकर कहा—लेकिन सुनो, अरे जरा सुनो तो ! तुम्हारा रास्ता गलत है । मुझे थोड़ा-थोड़ा सही रास्ता दीखने लगा है ।

गांधी ने कहा—हाँ होगा, लेकिन जवाहर, मुझे लम्बी राह तय करनी है । तुम मुझे बहुत याद रहोगे ।

जवाहरलाल को एक गुरु मिला था, एक साथी । वह कितना जवाहरलाल के मन में बस गया था । उसका प्यार जवाहरलाल के मन में ऐसा जिन्दा है कि खुद उसकी जान भी उतनी नहीं है । उसका साथ अब छूट गया है । लेकिन राह तो वह वहीं है, दूसरी है,—यह बात भी उसके मन के भीतर बोल रही है । वह ऐसे बोल रही है जैसे बुखार में नब्ब । वह करे तो क्या करे ?

इतने में पीछे से कांग्रेस की भीड़ आगई ।

पूछा—जवाहर, क्या बात है ? हॉफ क्यों रहे हो ? रुक क्यों गये ?

जवाहरलाल ने कहा—रास्ता यह नहीं है ।

भीड़ के एक भाग ने कहा—लेकिन गांधी तो वह जा रहा है !

जवाहर ने कहा—हाँ जा रहा है । गांधी महान् है । लेकिन, रास्ता यह नहीं है । पॉलिटिक्स और कहती है ।

भीड़ में से कुछ लोगों ने कहा—ठीक तो है । रास्ता यह नहीं है । हम पहले से जानते थे, आओ जरा सुस्ता लें, फिर लौटेंगे ।

जवाहरलाल ने कहा—हाँ, रास्ता तो यह नहीं है, और आओ जरा सुस्ता भी लें । पर लौटना कैसा ? देखो, वार्ये हाथ रास्ता जाता है । इधर चलना है ।

भीड़ में से कुछ लोगों ने कहा—लेकिन गांधी... ?

जवाहरलाल का कंठ आर्द्र हो आया । बड़ी कठिनाई से उसने कहा—

गांधी महान् है, लेकिन रास्ता***

आगे जवाहरलाल से न बोला गया। वाणी रुक गई, ओरों में आँसू आ गये।

इस पर लोगों ने कहा—जवाहरलाल की जय !

कुछ ने वही पुराना घोष उठाया—गांधी की जय !

और गांधी उसी रास्ते पर आगे चला जा रहा था, जहाँ इन जयकारों की आवाज़ थोड़ी-थोड़ी ही उस तक पहुँच सकी।

ऊपर के कल्पना-चित्र से जवाहरलाल की व्यथा का अनुभव हमें हो सकता है। उस व्यथा की कीमत प्रतिक्षण उसे देनी पड़ रही है, इसी से जवाहरलाल महान् है। उस व्यथा की ध्वनि पुस्तक में व्यापी है, इसीसे पुस्तक भी साहित्य है। जिसकी ओर बरबस मन उसका खिंचता है, उसीसे बुद्धि की लड़ाई ठन पड़ी है। शायद भीतर जानता है कि यह सब बुद्धि-युद्ध व्यर्थ है, लेकिन व्यर्थता का चक्र एकाएक कटता भी तो नहीं। बुद्धि का फेर ही जो है। आज उसी के व्यूह में घुसकर योद्धा की भाँति जवाहरलाल युद्ध कर रहा है, पर निकलना नहीं जानता।

यहाँ मुझे अपने ही वे शब्द याद आते हैं जो कभी जाने कहीं लिखे थे—

“While Gandhi is a consummation, Jawahar Lal is a noble piece of tragedy. Describe Gandhi as not human if you please, but Jawaharlal is human to the core; may be, he is disconcertingly so.”

जहाँ से जवाहरलाल दूसरी राह टटोलते हैं और अपना मत-भेद स्पष्ट करते दीखते हैं, उसी स्थल से पुस्तक कहानी नहीं रह जाती है। वहाँ जैसे लेखक में अपने प्रति तटस्थता नहीं है। वहाँ लेखक मानो पाठक से प्रत्याशा रखता है कि जिसे मैं सही समझता हूँ उसे तुम भी सही समझो, जिसे गलत कहता हूँ उसे गलत। वहाँ लेखक दर्शक ही नहीं, प्रदर्शक भी है। वहाँ भावना से आगे बढ़कर वासना भी आ जाती है। यों वासना किसमें नहीं होती, वह मानव का हक है। लेकिन, लेखक का अपनी कृति में वासना-हीनता का ही नाता खरा नाता है। वही आर्टिस्टिक है। जवाहरलाल की

कृति में वह आ गया है जो इनार्टिस्टिक है, असुन्दर है। आधुनिक राजनीति (या कहो कांग्रेस-राजनीति) में जिस समय से अधिकार-पूर्वक वह प्रवेश करते हैं, उसी समय से अपने जीवन के पर्यवेक्षण में लेखक जवाहरलाल उतने निस्संग नहीं देखते।

आत्म-चरित लिखना एक प्रकार से आत्म-दान का ही रूप है। नहीं तो मुझे किसी के जीवन की घटनाओं को जानने अथवा अपने जीवन की घटनाओं को जतलाने से क्या फायदा? परिस्थितियाँ सब की अलग होती हैं। इससे घटनाएँ भी सब के जीवन में एक सी नहीं घट सकती। लेकिन, फिर भी, फायदा है। वह फायदा यह है कि दूसरे के जीवन में हम अपने जीवन की भाँकी लेते हैं। जीवन-तत्त्व सब जगह एक है और हर एक जिन्दगी में वह है जो हमें लाभ दे सके। वस्तुतः जीवन एक लीला है। सबका पार्ट अलग-अलग है, फिर भी, एक का दूसरे से नाता है। लेकिन, यदि एक दूसरे से कुछ पा सकता है तो वह उसका आत्मानुभव ही, अहंता नहीं।

इस भाँति आत्म-चरित अपनी अनुभूतियों का समर्पण है। जवाहर लाल जी का आत्म चरित सम्पूर्णतः वही नहीं है। उसमें समर्पण के साथ आरोप भी हैं, आग्रह भी हैं। लेखक की अपनी अनुभूतियाँ ही नहीं दी गई हैं,—अपने अभिमत, अपने विधि-निषेध, अपने मत-विश्वास भी दिये गये हैं; और इस भाँति दिये गये हैं कि वे स्वयं इतने रामने आ जाते हैं कि लेखक का व्यक्तित्व पीछे रह जाता है।

यहाँ क्या एक बात मैं कहूँ? ऐसा लगता है कि विधाता ने जवाहरलाल में प्राणों की जितनी श्रेष्ठ पूँजी रखी है, उसके अनुकूल परिस्थितियाँ देने की कृपा उसने उनके प्रति नहीं की। परिस्थितियों की जो सुविधा जन-सामान्य को मिलती है उससे जवाहरलाल को वंचित रखा गया है। जवाहर लाल जी को वाजिब शिकायत हो सकती है कि उन्हें ऊँचे घराने और सब सुख-सुविधाओं के बीच क्यों पैदा किया गया? इस दुर्भाग्य के लिये जवाहर लाल सचमुच रुष्ट हो सकते हैं, और कोई उन्हें दोष नहीं दे सकता। इस खुश-और-बद-नसीबी का परिणाम आज भी उनके व्यक्तित्व में से धुलकर

साफ नहीं हो सका है।

वह हठीले समाजवादी हैं,—इतने राजनीतिक हैं कि बिल्कुल देहाती नहीं हैं। —रो क्यों ? इसीलिए तो नहीं कि अपनी सम्पन्नता और कुलीनता के विरुद्ध उनके मन में चुनौती भरी रहती है ? वह व्यक्तित्व में उनके हल नहीं हो सकी है, फूटती रहती है और उन्हें बेचैन रखती है।

बीस से चौबीस वर्ष तक की अवस्था का युवक सामान्यतया अपने को दुनिया के आगमने-सामने पाता है। उसे झगड़ना पड़ता है, तब जीना उसके लिये सम्भव होता है। दुनिया उसको उपेक्षा देती है, और उसकी टक्कर से उस युवा में आत्म-जाग्रति उत्पन्न होती है। चाहे तो वह युवक इस संघर्ष में डूब सकता है, चाहे चमक सकता है।

इतिहास के महापुरुषों में एक भी उदाहरण ऐसा नहीं है, जहाँ विधाता ने उन्हें ऐसे जीवन-संघर्ष का और विपदाओं का दान देने में अपनी ओर से कंजूसी की हो। पर मैं क्या आज विधाता से पूछ सकता हूँ कि जवाहरलाल को आत्मा देकर, जवाहरलाल की किस भूल के दंड में, उसने लाड़-प्यार और प्रशंसा-स्वीकृति के वातावरण में पनपने को लाचार किया ? मैं कहता हूँ, विधना ने यह छल किया।

परिणाम शायद यह है कि जवाहरलाल पूरी तरह स्वयं नहीं हो सके। वह इतने व्यक्तित्व नहीं हो सके कि व्यक्ति रहें ही नहीं। ध्योरी उनको नहीं पाने चलती, वही उसको खोजते हैं। शास्त्रीय ज्ञान की टेकन उनकी टेकन है,—हाँ, शास्त्र आधुनिक है। (पुस्तक में कितने और कैसे कमाल के रेफरेन्स और उदाहरण है !) शास्त्र उनके मस्तक में है, दिल में नहीं। दिल में शास्त्र का सार ही पहुँचता है, बाकी छूट जाता है। इसी से अनजान में वह शास्त्र के प्रति अवशाशील हो जाते हैं। एक 'इज़म' का सहारा लेते हैं, दूसरे 'इज़मों' पर प्रहार करते हैं। सच यह कि वह पूरे जवाहरलाल नहीं हो सके हैं, तभी एक 'इस्ट' (सोशलिस्ट) हैं; और ध्यान रहे वह पैतृक 'इज़म' नहीं है।

चूँकि उन समस्याओं से उन्हें सामना नहीं करना पड़ा जो आए दिन

की आदमी की बहुत क़रीब की समस्याएँ हैं, इसी से उनके मन में जीवन-समस्याओं के अतिरिक्त और अलग तरह की बौद्धिक समस्याएँ घिर आई हैं।

आदमी का मन और बुद्धि खाली नहीं रहते। सचमुच की उन्हें उलझन नहीं है, तो वह कुछ उलझन बना लेते हैं। जीवन-रामरथा नहीं तो बुद्धि-समस्या को वे बौद्धिक रूप दे देते हैं। क्या यह इसी से है कि उनकी बौद्धिक चिन्ता रोटी और कपड़े के राजनीतिक प्रोग्राम से ज्यादा उलझी रहती है,— क्योंकि, रोटी और कपड़े की समस्या के साथ उनका रोमांस का सम्बन्ध है!

स्थूल अभाव का जीवन उनके लिए रोमांस है। क्या इसलिए ऐसा है कि उनका व्यावहारिक जीवन जब कि देहाती नहीं है, तब बुद्धि उसी देहात के स्थूल जीवन की ओर लगी रहती है? और लोग तो चलते धरती पर हैं, कल्पना आसमानी करते हैं! जवाहरलाल जी के साथ ही यह नियम नहीं है। क्या हम विधाता से गूछ सकते हैं कि यह विपमता क्यों है?

जवाहरलाल जी को देखकर मन प्रशंसा से भर जाता है। पुस्तक पढ़ कर भी मन कुछ सहमे बिना न रहा। जब उस चेहरे पर भूलाहट देखता हूँ, जानता हूँ कि इसके पीछे-ही-पीछे मुस्कराहट आ रही है।

पर उनका मुस्कराता चेहरा देखकर भय-सा होता है कि अगली ही घड़ी इन्हें कहीं झीकना तो नहीं पड़ेगा!

पुस्तक में इसी रईस और कुलीन, लेकिन मिलनसार, वेदना में भीनी, खुली और साफ़ तबियत की भूलक मिलती है। मन का खोटा कहीं नहीं है, पर मिजाज जगह-जगह है।

निकट भूत और वर्तमान जीवन के प्रति असन्तुष्टता पुस्तक में प्रगाणित नहीं हुई है; फिर भी एक विशेष प्रकार की हृदय की सन्चाई यहाँ से वहाँ तक व्याप्त है।

पुस्तक में अन्त की ओर खासे लम्बे विवेचन और विवाद हैं। हमारे अधिकतर विवाद शब्दों का झमेला होते हैं। जब तक मतियाँ भिन्न हैं, तब-तक एक शब्द का अर्थ एक हो ही नहीं सकता। सजीव शब्द अनेकार्थ-वाची हुए बिना जियेगा कैसे? यह न हो तो वह शब्द सजीव कैसा? पर

जवाहरलाल जी इसी कथन पर विवाद पर उतारू हो सकते हैं। उन्होंने एक लेख में लिख भी दिया था कि एक शब्द दिमाग पर एक तस्वीर छोड़ता है, और उसे एक और स्पष्ट अर्थ का वाची होना चाहिए... आदि-आदि। पर, वह बात उनकी अपनी अनुभूत नहीं हो सकती। सुनने में भी वह किताबी है। इसलिए उन विद्वत्तापूर्वक किये गए विवादों को हम छोड़ दें। यह अपनी-अपनी समझ का प्रश्न है। कोई आवश्यकता नहीं कि कहा जाय जवाहर लाल ग़लत हैं, चाहे वह यही कहें कि वह और वही सही हैं।

जवाहरलाल जी आज की भारत की राजनीति में जीवित शक्ति हैं। उनके विश्वास रेखाबद्ध हों, पर वे गहरे हैं। कहने को मुझे यही हो सकता है कि रेखाबद्ध होने से उनकी शक्ति बढ़ती नहीं घटती है, और स्वरूप साफ़ नहीं सिर्फ़ सफ़्त होता है। उस पर वह कर्म-तत्पर भी हैं। विभेद उनके राजनीतिक कर्म की शिला है। वे जन्म से ब्राह्मण, वर्ग से क्षत्रिय हैं। पर मन उनका अत्यन्त मानवीय है। सूर्योदय की बेला के प्रभात में भी उन्हें प्रीति है। पशु-पक्षियों में, वनस्पतियों में, प्रकृति में, तारों से चमक जाने वाली आँधेरी-उजली रातों में, भविष्य में, इस अज्ञेय और अजेय शक्ति में जो है और नहीं भी है,—इन सब में भी जवाहरलाल जी का मन प्रीति और रस लेता है। उस मन में मत और रुचि की जिद हो, पर जिज्ञासा भी गहरी भरी है। वही जिज्ञासा से भीना स्नेह का रस जब तनिक-तनिक अविश्वस्त उनकी मुस्कराहट में फूटता है, तब आग्रह भी उसमें नहाकर स्निग्ध हो जाता है। वह नेता हैं और चाहे पार्टी राजनीतिक भी हों, पर यह सब तो बाहरी और ऊपरी बातें हैं। जवाहरलाल जी का असली मूल्य तो इसमें है कि वह तत्पर और जाग्रत व्यक्ति हैं। उस विर्मम तत्परता और जिज्ञासु जाग्रति की छाप पुस्तक में है और इसी से पुस्तक सुन्दर और स्थायी साहित्य की गणना में रह जायगी।

(२)

जवाहरलाल जी से कौन अनजान है। कुछ भी उन्होंने अपने पास नहीं रोका। समय को भी अपने में नहीं रोका। अपना सब-कुछ वह देते

ही चले गए हैं। इस प्रकार उनके सम्बन्ध सब ओर फैले हैं। पर उन असंख्य मानव-सम्बन्धों के विस्तार में ही वह सीमित नहीं हैं। सब उन्हें जानते हैं, फिर भी सभी को विस्मय है कि क्या वे उन्हें जानते हैं? कारण, धरती पर वह जितने हैं उससे अधिक हवा में हैं। इस हवाई चीज को पकड़ना आसान नहीं। मालूम होता है कि वह जहाँ और जो हैं, वहीं और उतने ही नहीं हैं, उससे परे और आगे भी हैं। मानव-सम्बन्धों में उन्हें पूरी तरह समझा या पकड़ा नहीं जा सकता है, उनके पार आदर्शों का जो लोक है, जवाहरलाल वहाँ से भी तोड़कर अपने को एक क्षण अलग नहीं कर पाते हैं। इस तरह बहुतांशों को वह बहुत जल्दी नाराज और निराश कर देते हैं। लेकिन अगले क्षण ही नाराजी दूर हो जाती है, निराशा उड़ जाती है, क्योंकि जवाहरलाल की मुस्कराहट उन्हें बता देती है कि वह व्यक्ति नहीं बालक हैं। बालक में स्वार्थ गँठ नहीं बन पाता, सब कुछ उसमें दया और लहराया रहता है। आँख उसकी साफ और तबीयत सदा ताजा रहती है। बालक करता नहीं उससे होता है। अपनी वृत्तियों और खूबियों के लिए भी मानों पूरी तरह उसे जिम्मेदार नहीं ठहराया जा सकता।

व्यक्ति यों तो आत्मा है। लेकिन शरीर इस जगत् में होकर धीरे-धीरे बहुत सामान वह अपने पास जुटा लेता है, जो औरों से काटकर उसे अपनी निजता की गँठ में अलग बाँध दे। तब संघर्ष उसका नियम और अहं-रक्षा उसकी चिन्ता होती है। शरीर के चलाये तब उसे चलना और उसी की भाषा में जीना होता है। इस तरह जीवन उसके लिए समस्या बनता है और वह जगत् की गुरुथी में मानों अपनी ओर से एक उलझन और बंधाता है।

जवाहरलाल में यह किनारा नहीं, ऐसा तो नहीं कह सकते। उनके लहू में सम्भ्रान्ति है, नसों में 'नीला खून' है। वह उनको एक दर्पी और प्रतापी व्यक्तित्व प्रदान करता है। वह उनको अलग छुँट देता है। पर भीतर से जवाहरलाल इस अपनी विशिष्टता पर प्रसन्न नहीं हैं। यह विशेषता है जो राजनीतिक होने पर भी उन्हें स्मरणीय बनाती है। अधिकांश राजनीतिक विस्तार में रहते हैं, इसलिए तत्काल में उनकी सीमा और वहीं

समाप्ति है। भविष्य में उनकी व्याप्ति नहीं होती। अमरता में वे नहीं उठते। मरकर वे ऐसे मिटते हैं कि किसी की कृतज्ञता में याद शेष नहीं छोड़ जाते। इतिहास उन पर धूल ही चढ़ाता जाता है। उसके भीतर से उन्हें जगने की चिन्ता भविष्य को नहीं होती। पर जवाहरलाल को अपनी निज की विशिष्टता अन्दर से प्रिय नहीं, यह अमरता के प्रति उनका दावा है। अन्त में यही उनकी समस्या भी है।

वह शक्ति के क्षेत्र में नगण्य नहीं हैं। वह क्षेत्र आवश्यक रूप में स्वार्थों का क्षेत्र है। शक्ति का मतलब ही है कि सामने तुलने को दूसरी शक्ति है; उस शब्द ही में प्रतिद्वन्द्व है। विरोध और विग्रह बिना वह निष्फल है, असिद्ध है। विग्रहात्मक विरोध स्वार्थों में ही सम्भव है। ऐसा होकर भी जवाहरलाल किसी स्वार्थ के प्रतिनिधि नहीं हैं। भारत के, भारतीय सत्ता और शासन के प्रतिनिधि हैं, फिर भी उसकी अहंता के प्रतिनिधि उन्हें नहीं कहा जा सकता। भारत उनके लिए भूगोल नहीं है, वह मानों एक आत्मा है, एक आदर्श है, एक आवश्यकता है। स्टालिन-ट्रूमैन के मिलने-जुलने में जो दिक्कत होती है, जवाहरलाल के साथ उसकी कल्पना भी मुश्किल है। कारण, जवाहरलाल के पास देश की क्या अपनी निज की अहंता के लिए भी स्थान नहीं है। वह इसी से है कि शासक के साथ वह मित्र भी हैं, सेवक भी हैं। यों सच पूछिए तो सही दंग के वह शासक ही नहीं हैं।

आदमी शरीर रखकर चलता है, लेकिन कल्पना उस बन्धन से उल्टी ही चलती है। शासक कल्पना-बिहारी नहीं हो सकता। इस तरह शासक अनागत के आवाहन में सदा ही बाधा है। वह स्थिति से बैध जाता है और गति यथाकिंचित् उससे रुकती ही है। काल-गति उसे तोड़कर अपने को सम्पन्न करती है। शासक और कवि में इसलिए मौलिक विरोध है। जवाहरलाल में वह विरोध कम नहीं हो गया है, लेकिन कभी वह अकवि नहीं हैं। कहना मुश्किल है कि वह साहित्यिक अधिक हैं या राजनीतिक। कल्पनाशील नहीं तो वह कुछ भी नहीं। वह कल्पनाशीलता प्रधान मन्त्री नेहरू के लिए भूषण है, दूषण बिलकुल नहीं। यही जवाहरलाल की

प्रतिभा का प्रमाण है ।

नेता की भिन्न कोटि है । राजा का बेटा राजा होता है और कुरसी आदमी को अफसर बना सकती है । पर नेता शासक से अलग है । नेता उठाता है, शासक दबाता है । जरूरी है कि आत्मा का उभार नायक में अधिक हो, शरीर का खिंचाव कम । वह निस्पृह हो, बहादुर हो, खरा और बेलाग हो । शरीर से स्वार्थ उपजता है, आत्मा से ही उत्सर्ग । आत्मोन्मुख होकर ही व्यक्ति उठता है । आत्मवान् ही असल अर्थ में विराट् बन सकता है । नायक को इस तरह अलक्ष्य की ओर ही बढ़ना होता है, जिसमें सहारा केवल उसकी श्रद्धा है । तब अनुयायी उनका शरीर होता है । आज का पार्टी-लीडर पार्टी से अलग और ऊपर जो कुछ रह नहीं जाता, इसलिए वह जोड़-तोड़ में रहता है । उसकी खूबी हिसाबी चतुराई की बन आती है । निष्कपटता में उसे खतरा है । शौर्य और पराक्रम उसमें झलक नहीं सकते । किन्तु जवाहरलाल की बात और है । देश और पार्टी के नेता होकर भी देश और पार्टी को वह आश्वासन नहीं पहुँचा पा रहे हैं कि वह उनसे घिरे हैं । तभी उनका नेतृत्व उनके लिए चिन्ता का विषय नहीं है, बोझ की भाँति आ गया हुआ वह एक दायित्व है, जो विनम्र और कुशल तो उन्हें बना सकता है, कायर और कुटिल नहीं ।

दुनिया को आज की स्थिति में जवाहरलाल से बहुत आशाएँ हैं । गान्धी ने एक नई दृष्टि और नई परम्परा जगत् को दी । उन्होंने दिखाया कि संसार का काम ईश्वर की नीति से ही चलेगा और चलाना होगा, सांसारिक नीति कोई अलग नहीं हो सकती । आत्मा के अनुसार ही चलने में शरीर का स्वास्थ्य है । इसलिए संसार के भले के लिए सम्राट् और राज-नेता नहीं चाहिए, सेवक और शहीद चाहिए । शासक और अमिक की खाई भूटी है । शासक बोझ है, इसलिए शासक का नाम बदलने, उनकी संख्या कम-अधिक करने और शासनतन्त्र को इधर या उधर फेरने से असली कुछ लाभ होने जाने वाला नहीं है । आर्थिक कहकर जिस कार्यक्रम के सहारे विश्व में सहयोगी, शान्त और सही व्यवस्था हमें लानी

है, उसका तथ्य अंक और हिसाब में नहीं है। मूल की ओर से उसे नैतिक और सेवाभावी होना है। उसके लिए सबसे पहले हृदय का परिवर्तन करना है। स्पर्द्धा की जगह प्रार्थना से चलना है। सारी सृष्टि को ही बदल डालना है। तब शासन और अर्थ, दोनों के ही क्रम और कार्य बदले दिखाई देंगे। उनके विकार को दूर करके उन्हें संस्कार देना है, नहीं तो रोग-साधनों से नीरोग साध्य नहीं प्राप्त होने वाला है।

गांधी की यह दृष्टि सारे राजनीतिक संसार के लिए चुनौती है। खासकर अब जबकि नसों में तनाव है, शस्त्रास्त्र भीषण वेग से तैयार हो रहे हैं और एक-दूसरे को अकारथ करने और दोषी और दुष्ट प्रमाणित करने की कोशिशें चल रही हैं, संक्षेप में जब युद्ध चारों ओर से आ लगा अशुभव होता है, गांधी का मार्ग बचाव का एकमात्र मार्ग रह जाता है। जवाहरलाल के हाथ उस परम्परा का उत्तराधिकार है, और उस मार्ग के द्वार की कुन्जी है। गांधी लँगोटी में और भोंपड़ी में रहते थे, जवाहरलाल सूट में और महल में दीखते हैं। गांधी चर्खे पर मन रखते थे, जवाहरलाल की ऑल मशीन और ट्रैक्टर पर है। यह अन्तर है और जवाहरलाल को बहुत फासला तय करना है। फिर भी, गांधी-वादी से भी ज्यादा, उस परम्परा की रक्षा जवाहरलाल के हाथ है और विलायतों को जवाहरलाल से वह चीज मिशनी और ले लेनी है। नहीं तो नहीं कहा जा सकता कि तीसरा विश्वयुद्ध न होगा, या कि फिर उसी की कड़ी में चौथा भी प्रलययुद्ध न आकर रहेगा।

एक बात साफ है। वस्तु की बहुतायत, उसका थोक उत्पादन (Mass Production) सबकी पहली आवश्यकताओं की भरपूर पूर्ति—इस तरह जवाहरलाल का रख और जोर है, तो खुद वस्तु के मोह के कारण नहीं, बल्कि खरी मानव-सहाय्यभूति के कारण। इन्सान से उसे प्यार है और आदमी को भूखा-नंगा देखना, वह सह नहीं सकता। भूखे-नंगों को गांधी 'हरिद्वारायाय' कहकर, जबकि अपने से उसे कैन्वे स्थान पर रखते थे, तब जवाहरलाल उस भावना में उनका साथ नहीं दे पाते। इसे उनके स्नायुओं की विवशता कह लीजिए। लेकिन अगर वह कपड़े से और रहन-सहन से

शालीन रहते हैं तो इसलिए कि वह नहीं चाहते कि कोई एक घड़ी भी अपना भूखा-नंगापन बर्दाश्त करे। गांधी जिसे मन्दिर में बिठाते हैं उसका अपने झाड़ू-गर्भ में कदम रखना भी जवाहरलाल बर्दाश्त नहीं कर सकते। इस ऊपरी विरोधाभास के नीचे दर्द की थोड़ी-बहुत आन्तरिक एकता भी नहीं देख सकते तो हम खुली आँखों अन्धे ही ठहरेंगे। अगर जवाहरलाल आदर्श और नीति से भटकते भी हैं तो वह दर्द ही उन्हें भटकाता है। उस दर्द से बढ़कर भी क्या कोई आदर्श है? कोई नीति है? जवाहरलाल इसी मूल प्राण-प्रेरणा के कारण गांधीवादियों से अधिक गांधी-परम्परा के उत्तराधिकारी हैं।

जिस पर इस तरह हमें विस्मय हो सकता है, उसी पर हम तरस भी खा सकते हैं। भयंकर विरोधाभास जवाहरलाल में आ चुके हैं। व्यक्तित्व जो जितना समृद्ध और सम्पन्न होगा उतना ही विरोधाभासों का कीड़ा-नेत्र होगा। समन्वय, समत्व और एकत्व जहाँ परिपूर्ण होते हैं वह तो हैं भगवान्। गुण सत्र वहीं से होकर भी वह स्वयं निरुण हैं। साकार सब-कुछ उन निराकार में से है। पर जवाहरलाल के प्रति गहरी कसूर होती है जब देखते हैं कि इतने तीव्र विरोधों को भीतर रखकर भी उसे उन भगवान् की उपासना प्राप्त नहीं है, जो समस्त विरोधों के निर्विरोध आदि हैं और सब अशान्तियों के लिए चरम शान्ति हैं।

जवाहरलाल अतः समाधान नहीं हैं, जो कदाचित् ईश्वरोन्मुखता है। वह सतत् प्रश्न हैं जो शायद इह जिवन है। वह एक गम्भीर और गहन ट्रेजेडी है। महान् जो भी है, ट्रेजिक है। जवाहरलाल में महत्ता है, और यही ट्रेजेडी है। यदि केवल वह व्यस्त न रहते, बल्कि आगे बढ़कर अपने में से नौचकर एकाध पल की फुरसत वह छीन लेते, और उस फुरसत में सच्चमुच शून्य होने, अर्थात् स्वयं न होने झूठी कृतार्थता पा सकते, तो? तो—?

पर यह 'तो?' तो ठाली कल्पना है। जवाहरलाल को गांधी देखने के दावा करने की अदया कैसे की जा सकती है। हम कैसे चाह सकते हैं कि अन्तर्व्यथा किसी में बढ़े। लेकिन अगर उनका मस्तिष्क, जो पश्चिम की शिक्षा से खूब सध गया है कम सधा होता और आरम्भिक सहायभूति को बीच में

लपककर उसे बौद्धिक योजनाओं का रूप देने में इतना अभ्यस्त न होता, तो क्या सचमुच ही वह सहाजुभूति उनके समूचे व्यक्तित्व को जलाकर आज आग न बना देती कि जिस पर न कपड़ा टिकता, न पद, न महत्त्व और न बड़े-बड़े नक्शे, बल्कि अपने समूचेपन में वह आँसू और आग की एक कविता बन जाता !

भारत के वह हैं, और कहीं कुछ करें जन्मवाला दिन उनका भारत के ही भाग्य में रहने वाला है। आज तो दुनिया विग्रह पर खड़ी है और एक को जो उजला है वही उस कारण दूसरे को काला दीखता है। क्या हम कहें कि नेहरू अमरीका जीत कर आए हैं ? कहिए, पर तभी उधर दूसरा कहेगा कि अमरीका में वह बिक आए हैं। दोनों ही राष्ट्रगत स्वार्थों की भाषा है। किन्तु भारत की भारतीयता कोरी राष्ट्रीयता नहीं है, राष्ट्र-वाद में भारत की आत्मा नहीं है। कुछ को शिकायत रही कि भारत के इतिहास में राष्ट्र का उदय नहीं हुआ। इतिहास की जगह वहाँ पुराण हुए, जिनमें साहित्य हो, विज्ञान नहीं है। जो हो, भारत की आत्मीयता खण्ड के गर्व में नहीं उफनी, अखण्ड की पूजा में ही उसने अपनी लगन रक्खी। विश्व की और मानव-जाति की वह अखण्डता आज बीसवीं सदी में तथ्य की और योजना की बात हो आई है। भारत ने तो सदा निष्ठा रखी कि वह अखण्ड ही सत्य था और है, लेकिन समझवादियों ने उसे ही स्वप्न कहा। आज यद्यपि विश्व अखण्ड होकर समक्ष है, फिर भी राष्ट्र अपने उत्कट राष्ट्रवादों से चहके हुए हैं। वे शान्ति चाहते हैं, पर औरों के सिर चढ़कर। क्या अब तक इसी वृत्ति में से युद्ध नहीं निकलते रहे हैं ? अपने को महत्त्व देने का यह आग्रह तो सदा का नियम है। किन्तु दूसरों को महत्त्व देकर चलने का नियम सिर्फ एक भारत में पनपा है। वही अहिंसा का नियम है, जिसे गांधी ने फिर से स्वयं भारत को और उसके द्वारा जगत् को दिया। भारत में चक्रवर्ती भी हुए, जिन्होंने आक्रान्ता को भेला और परास्त किया और देश के माथे को ऊँचा रक्खा। फिर भी भारत के आत्म-शौर्य का प्रताप ज्वलन्त होता है राम-कृष्ण में, बुद्ध-महावीर में, शंकर-चैतन्य में। और हाल में गांधी वही

है जो उस परंपरा का पूरक है। भारत में बाहुबल को कभी इतना बढ़-चढ़ने नहीं दिया गया कि वह दूसरे के लिए संशय और भीति का कारण हो। सदा ही वह आत्मबल का और मानवजाति के ऐक्य का प्रतिष्ठाता रहा है।

जवाहरलाल पश्चिम को उसी विश्व की अखण्डता का दिगदर्शन कराते हुए अमरीका से आ रहे हैं। अमरीकी अहंता को उनसे उत्तेजन और अभिनन्दन नहीं मिला है। महत्वाकांक्षा का नहीं, बल्कि पश्चिम की दायित्व-भावना को उन्होंने उभारा है। भारत के योग्य उत्तराधिकारी के अनुरूप ही उनका यह काम हुआ है। सत्ता के प्रतिनिधि तो वह थे और इस हैसियत से तदुपयुक्त शिष्टाचार और मानाचार का उन्होंने ध्यान रखा है, पर भारत के सच्चे सार्वकालिक सन्देश का प्रतिनिधित्व भी उन्होंने वहाँ किया है।

आगामी विश्व में वस्तु से व्यक्ति का महत्त्व निश्चय ही अधिक होने वाला है। तब विश्व का केन्द्र पश्चिम नहीं पूर्व होगा, क्योंकि इन्सान ज्यादा यहीं बसता है। एशिया सिर्फ खपत की मण्डी है उस समय तक जब तक कि मशीन पर हमारा आधार है। पर आधार जब स्वयं मनुष्य होगा तब एशिया अनायास विश्व को शक्ति, शान्ति और व्यवस्था देने वाला भूखण्ड हो जायगा। अंडर डेवेलप्ड (Under Developed) जो वस्तु की ओर से है वह आत्मा की ओर से भी अविकसित है, यह मानकर चलना यूरोप व अमरीका के लिए भयंकर खतरे की बात होगी। जवाहरलाल से यह चेतावनी पूरे और सही अर्थों में उन मुल्कों को मिली है। जिनको नहीं मिली, हमें आशा करनी चाहिए कि काल-संकेत से वे भी जगेंगे और अधिक गतिमत में नहीं रहेंगे।

महात्मा गांधी

: १ :

सन् १९३० में नमक-सत्याग्रह हुआ। और उसमें जेल जाना हुआ। वहाँ सहसा देखा कि मुझे आस्तिक बनना पड़ रहा है। यानी मेरी वैसी कोई इच्छा नहीं थी। पर, एकाएक ऐसा घिर आया कि ईश्वर से बचने की राह ही कहीं न रह गई। यह अप्रत्याशित था, पर अनिवार्य भी बन आया। किन्तु ईश्वर-विश्वास के आने के साथ ही सुगपत् प्रतीत हुआ कि पुनर्जन्म का विश्वास मुझे खो देना होगा। या तो ईश्वर मानो या पुनर्जन्म ही मानो। दोनों साथ नहीं चल सकते। यह देखकर मैं बड़ी उलझन में पड़ा। पुनर्जन्म का विचार भारत की जलवायु में घुला-मिला है। यह तो मेरे बस का न हो सका कि ईश्वर के होने से छुट्टी पा सकूँ, पर पुनर्जन्म को हाथ से जाते देखते भी बड़ा असमन्जस होता था। जैसे आधार छुटा जाता हो।

जेल में रहते तो और चारा न था। बाहर आने पर मैथिलीशरण जी से परिचय हुआ। वह डा० भगवानदास के पास ले गए। फिर कहा कि गांधी जी को लिखो। यह बात मेरे मन में भी उठती थी, पर मैं फौरन दाव देता था। कह दिया कि नहीं, गांधी जी को नहीं लिखूँगा, कभी नहीं लिखूँगा। यह उन पर जुल्म होगा।

और लोगों से भी बात आई। सभी ने सलाह दी कि गांधी जी को

लिखना चाहिए। वह तो मुझसे हो न सकता था, लेकिन पुनर्जन्म को लेकर इन-उन के पास काफी भटक लिया।

इसी समय की बात है कि गांधी जी दिल्ली आये हुए थे। मुझे उस नाम से डर लगता था। जितनी ही उत्कण्ठा होती थी उतनी ही आशंका। सम्भव न था कि गांधी जी के पास तक मैं जा सकूँ। किसी सभा में उन्हें दूर से देखता तो भी जी होता कि अपना मुँह छुपाकर दूर हो जाऊँ। उन्हीं दिनों शायद गांधीजी से मिलने के लिए दया आई हुई थी। वह कई बरस साबरमती और वर्धा रह चुकी थी और गांधी जी से घुली हुई थी। उसी समय अमरदेव जी भी आए। याद नहीं कि वह तब देव शर्मा ही थे कि अमरदेव बन चुके थे। कांगड़ी-गुरुकुल के आचार्य अवश्य थे।

वे लोग गांधी जी के पास जाने को उद्यत हुए। मन में मेरे भी था पर मैं मुँह न खोल सकता। दया ने कहा, “जीजा जी, चलिए न, आप भी चलिए।”

“मैं ?”

“हाँ, हाँ, चलिए।”

मैं गहरे असमन्वस में पड़ा। साहस जवाब दे रहा था, पर उत्सुकता भी अदम्य थी। अमरदेव जी ने भी कहा, “हाँ, आओ, चलो।” अमर पाकर मैं साथ हो लिया।

बिरला-हाक्स में पीछे की तरफ बरामदे में गांधी जी बैठे थे। उन्होंने कहा, “महादेव, यह दया है। इसे वह ख़त ला के तो दो, जो भेजने वाले थे।”

महादेव भाई ने बबूल के एक कौंटे से टके तीन-चार कागज़ लाकर दया के हाथ में दे दिये और दया उनको पढ़ गई। गांधी जी ने पूछा, “पढ़ लिया ? सब बातों का जवाब आ गया न ?”

“जी हाँ।”

“सबका ?”

“जी—”

गांधी जी ने दृष्टि हटाई। पर, सहसा दया ने कहा, “एक बात रह गई, बापू।—पुनर्जन्म ?”

चेहरे की खिलावट लुप्त हो गई। गम्भीरता आ गई। दृष्टि में जैसे स्नेह नहीं, ताड़ना हो। बोले, “पुनर्जन्म ! यह प्रश्न नहीं, धृष्टता है।”

दया घबरा गई। मैं पीछे की तरफ एक ओर नग्न बन बैठा रहा, लेकिन मुझे काटो तो मूल नहीं।

“...तुम कन्या हो। मैं पुरुष हूँ। और हम दोनों में कोई व्याघ्र नहीं है, सो क्यों ? इसलिए पुनर्जन्म है।”

पर जैसे ये शब्द दया ने पूरी तरह भीतर नहीं लिए। आतं बनी-सी बोली, “मैं नहीं, बापू...ये जीजा जी।”

गांधी जी की आँखें मेरी ओर उठीं। मैंने उस क्षण मर रहना चाहा। सिटपिटा कर बोला, “मैं...मुझे नहीं मालूम था। मैंने नहीं कहा। इसने दया ने यों ही लिख दिया। मैं कभी लिखने वाला नहीं था। लेकिन अब क्या कहूँ ?...बैठे ठाले की उत्सुकता यह नहीं है, बापू। लगता है मैं रुक गया हूँ, सब अटक गया है। दिमाग काम ही नहीं करता। यह उलझन जैसे मेरे साथ मूल की बन गई है। यह कटे तब आगे कुछ बने। लेकिन दया बड़ी खराब है। इसने आपको नाहक लिख दिया...”

गांधी जी बोले, “अच्छा, जो मैंने कहा कैसा लगता है।”

मैंने कहा, “उससे सन्तोष तो नहीं होता।”

बोले, “जो कहूँगा उसका क्या करोगे ?”

सम्भलकर कहा, “अब्बा से लूँगा फिर यत्न करूँगा, बुद्धि-विवेक से भी अपना सबूत।”

“ओह,” मानो कुछ चैन मानते हुए बोले, “तब तो खुलासा पत्र में लिखना।”

“इस धृष्टता को आप क्षमा कर सकेंगे।”

“हाँ, सो क्षमा तो मुझे माँग लेनी चाहिए क्योंकि हो सकता है कि ज्ञान आने में कुछ देर भी हो जाय।”

यह गांधी जी से पहली मुलाकात थी। उनकी छ्वाः धोये पुलती नहीं। वह स्निग्ध लगे, पर कठिन। उनकी जिरह भेजना कितना दुर्वह था। घर आकर दया को आड़े हाथों लिया। कहा कि तू बड़ी वैसी है री।

बोली कि लो, अब खत लिखा दो।

मैंने कहा कि हट। भला, हम बेकार-सी पाप के लिए मैं गांधी जी को खत लिखने बैठूँगा।

बोली कि लिखाओ भी। बात इतनी आगे बढ़ गई है तो क्या अब वापस मुड़ोगे ?

मेरा लिखना हमेशा करीब ऐसी हालतों में हुआ है। खत लिख गया और डल गया। फिर एक अरसा गुजर गया और जवाब उसका नहीं आया। चलो छुट्टी हुई।

: २ :

उसके बाद तब की बात है जब गांधी जी ने समग्र ग्राम-सेवा का विचार दिया। रचनात्मक काम कई तरह का था और उनमें आपस में फासला भी समझ लिया जाता था। संगठन तो उनके अलग थे ही, पर जैसे वे काम भी इतने अलग थे कि कोई एक भावना और एक प्रयोजन उन्हें थामे न रखता हो। तब समग्र-सेवा को उन्होंने बल दिया और संगठनों को विकेंद्रित करना चाहा।

वह विचार मुझे पसन्द आया। इच्छा हुई कि क्यों न मैं उसमें अपने को भोंक दूँ, पर तब कुछ शंकाएँ थीं और मैंने गांधी जी को पत्र लिखा। यह पत्र सीधा-सादा काम-काजी था। पुनर्जन्म की या पहली मुलाकात की हवा भी उसे न छू गई थी। उत्तर आया कि अमुक तारीख को पहुँच रहा हूँ। हरिजन-स्त्री में मिलना।

गांधी जी आये तो कब उन्हें भीड़ से छुट्टी थी। सब तरह के खास-खास लोग उन्हें घेरे थे और व्यूह तोड़ा न जा सकता था। फिर मेरे जैसा पस्त-हिम्मत आदमी। मैंने एक-दो गयमान्य कि सहायता चाही पर उद्धार

कोई क्या कर सकता था ? आत्म से ही आत्म का उद्धार होना लिखा है । करीब षष्टा-भर किनारे भटकते हो गया तो हुताश गांधी जी के पास सोचे पहुँच कर कहा, “बापू, मैं भी हूँ यहाँ, जैनेन्द्र ।”

बहुतां के बीच घिरे बैठे बापू ने निगाह ऊपर की । नीली-सी बे आँखें । हँसकर बोले, “अरे, तो यों कहो कि दया के जीजा जी । पर आज क्या है, सोम । बात परतों बुध को होगी, दो वजे । होगा न सुभीता ?”

मैंने कहा, “जी ।”

“और सब राजी ?”

“जी ।”

देखा उनकी निगाह फिर नीचे यथावत हो गई और वह प्रस्तुत दूसरी व्यस्तताओं में दत्तचित हो गए । मुश्किल से डेढ़ मिनट लगा होगा, पर इससे गांधी जी के काम में विघ्न नहीं आया, व्यवधान नहीं पड़ा, जबकि मेरा प्राप्य मुझे पूरा मिल गया । लौटा तो चित्त में प्रसन्नता थी । इस एक मिनट की स्वीकृति में मैंने पाया कि मैं समूचा स्वीकृत हो चुका हूँ ।

कहा है, कर्म सुकौशल योग है । बिना योग के ऐसा कर्म-कौशल सध नहीं सकता । इन्द्रियों पूरी जगी चाहियें, पर उतनी ही वशीभूत । व्यक्ति को हर-क्षण ऐसा होना चाहिये कि वह एक में हो, तो और सब में भी हो । एकाग्र पर सर्वोन्मुख ।

गांधी जी को मन में साथ लिये-लिये घर आया । विलक्षण अनुभव था । पहला साक्षात्कार अत्यन्त साधारण था, और अत्यन्त अल्प फिर उस पर से बरस के बरस बह गये थे । पर देखा कि गांधी के साथ कुछ बुझता नहीं है, बुझता नहीं है, प्रस्तुत और ताजा बना रहता है । ऐसे क्षण अमिट बनता है । क्या यही साधना है जिससे पुरुष काल-पुरुष वनता, व्यक्ति विराट होता और एक अखिल हो जाता है ?

जान पड़ा जैसे वैयक्तिक और निर्वैयक्तिक के बीच सीमा का लोप हो गया है । निश्चय है कि मुझ से निगाह हटते ही मैं उनके लिये न रह गया था, पर निगाह में जब तक था तब तक मानों मैं ही सब कुछ था और

उनकी निजता मुझसे अलग न थी ।

बुधवार को दो बजे पहुँचा और बातचीत की । बातचीत में अपने मन की शंका रखी । कहा कि सेवा तो ठीक, पर फिंगरल पर बंद सेना हो ? रहता यहाँ हूँ, जीविका मेरी चली आए एक पाँच सौ मील दूर से आने वाले मनीआर्डर के रूप में, तो क्या यह सहज है कि जहाँ हूँ वहाँ लोगों से मेरा हितैक्य और आत्मैक्य बन जाय ? गाँव का सेवक उद्धारक हो तो कैसे चलेगा ? उसे क्या जीविका के लिए भी वहीं निर्भर नहीं करना चाहिये ?

गाँधी सुनते रहे, सुनते रहे, बोले, “क्या चाहते हो ?”

कहा, “गाँव में बैठूँ तो यह चाहता हूँ कि उनके दुःख-गुल का भागी नऊँ, उस कक्षा का होकर । कोई बाहर से आई अर्थवृत्ति मेरा पोषण न करे ।”

हँसे, बोले, “यह उत्तम है ।”

दूसरी शंका यह थी कि राजकारण को जीवन से अलग रखने का वचन कैसे दिया जा सकता है ? उस समय समग्र ग्राम-सेवकों से गाँधी जी यही चाहते थे । मैंने कहा कि राजनीति ओढ़ी हुई हो तो उतार भी दी जा सकती है, पर विश्वासों और विचारों की अभिव्यक्ति वह हो तो उसे अलग रखना कैसे बनेगा ?

गाँधी जी ने मुझे कौतूहल से देखा और कहा, “ठीक है ।”

बात पाँच-सात मिनट में खत्म हो गई । देखा कि बोलता मैं ही रहा हूँ, उनकी ओर से एक-आध वाक्य ही आया है । मुझे यह न जाने कैसा लगा । सोचता था कि मुझे खींचा जाएगा, जीता जाएगा । स्पष्ट था कि वह ग्राम-सेवकों की एक बड़ी संख्या चाहते थे, उनकी भर्ती भी हो रही थी । मैं एक खासा उम्मीदवार समझा जा सकता था, पर मुझे भर्ती में लेने की तनिक आतुरता उधर से नहीं आई, प्रतीत हुआ कि मेरा अपना ही समर्थन आया है । इस प्रकार कुछ ही देर में मैंने अपने को वहाँ समाप्त और अनावश्यक अनुभव किया । लेकिन भीतर से अपने को समर्थित और प्रसन्न पाया ।

मैं इस मेंट से वापिस आते हुए सोचता रह गया कि यह क्या हुआ, क्या परिणाम आया । काम-काज की भाषा में फल निष्फल था । पर भीतर देखा

कि बात ऐसी नहीं थी। मैं प्रभावित था और प्रसन्न जैसे भीतर कुछ फैल रहा हो, मैं प्रशस्त हो आ रहा हूँ।

चलते वक्त गांधीजी ने दया की बात की थी और दया की बहिन की, और भी इसी तरह की निष्प्रयोजन कुछ बात हो गई थी। उसने मुझको मानो हल्का और भरपूर बना दिया था।

यह भेंट प्राप्ति के अर्थ में शून्य रही। आशा थी कि मैं सेवकों की श्रेणी में आ जाऊँगा, वह कुछ न हुआ। गाँधी जी ने अपनी ओर से उसकी कोई चेष्टा नहीं की। गांधी जी की यह विशेषता गांधी जी की अपनी ही थी। वह अनुयायी नहीं चाहते थे, उनकी पॉल बढ़ाना नहीं चाहते थे, न दल चाहते थे। सबको स्वयं रहने देने में मदद देना चाहते थे कि बस भीतर से उसको बढ़ावा पहुँच जाय। शायद व्यक्तित्व के निर्माण की यही कला है और यह उन्हें सिद्ध थी। पर यह आसान नहीं है। इसमें अपने को अपने से छोड़कर रहना होता है। अपने को होम सके वह ही इसे साध सकता है।

उनके प्रभाव का तब जैसे मूल हाथ आया। जैसे वे किसी को शर्त के साथ नहीं लेते, बे-शर्त ज्यों-का-त्यों लेने को तत्पर हैं। जो हो उसी रूप में तुम्हारा वहाँ सत्कार और स्वागत है। यह नितान्त, निस्पृह, निस्स्व असाम्प्रदायिकता उनकी शक्ति थी।

मैंने पूछा था कि मेरा मन और मत देखते क्या उनकी सलाह है कि मैं बाकायदा सेवकों की श्रेणी में आऊँ ?

उनकी सलाह नहीं थी, पर चाहते थे कि मैं अपने साथ समय लूँ और स्वयं निर्याय पर पहुँचूँ। इससे तीसरी भेंट भी हुई। सोच-समझकर मैंने कह दिया कि मैं बेकार हूँ।

हँसकर बापू ने कहा कि तुम इसमें अनेकों के साथ हो।

इसी भेंट में मैंने याद दिलाई कि बापू, पुनर्जन्म के संबंध की शंका वाले मेरे पत्र का उत्तर मुझे नहीं मिला।

“नहीं मिला ?”

“नहीं।”

“कितना बड़ा था ?”

“आट-दस पृष्ठ रहे होंगे।”

“ओह, तब तो हो सकता है। हो सकता है रोक लिया हो। मेरे पास वाले लोग हैं,” कहकर वह हँसे।

मैं किञ्चित् निरुत्साह होने को हूँ कि बोले, “कापी है।”

मैंने कहा, “है।”

“तो ऐसा करना कि फिर लिखकर भेज देना। अब उत्तर मिलेगा।”

“वक्त आप पा सकेंगे?”

“वही तो सवाल है। पर पाना होगा भई, कहकर फिर ठठाकर हँसे।”

यहीं गांधी अविजय हैं। काटते हैं, पर भर भी देते हैं। समझ नहीं आता कि ऐसे आदमी के साथ क्या किया जाय। मालूम होता है उसकी राह रुक नहीं सकती। मानो वह हम सबमें से अपनी राह बना ले सकता है। सब उसके मित्र हैं। अवरोध भी जैसे उसके लिए सहायता है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि मैंने कापी से नकल करके पत्र उन्हें भेजा और अगरचे समय लगा पर उनका उत्तर आया। तिस पर भी लिखा और तीसरा उत्तर आया। उसके बाद लिखने को शंका शेष न रही, आवश्यकता ही जैसे निःशेष हो गई।

यह अनुभव भी अचब है। आज भी नहीं कह सकता हूँ कि सन् १९३० की मन की स्थिति भीतर से लुप्त हो गई है। जन्मान्तर के सम्बन्ध में मन की लगभग वही स्थिति है, सिर्फ इतना हुआ है कि वह अब कुतरती नहीं है। गांधीजी के उत्तरों की यही खूबी है। मानो वे शान्ति देते हैं, खरबन नहीं करते, प्रतिपादन नहीं करते, अद्धा में हठात् हो पड़े छिद्र को बस मूँद लेते हैं। संकल्प ही आदमी का बल है। वह बल संशय या शंका की राह से बूँद-बूँद आदमी में से रिसता रहता है। ऐसे वह छूछा रह जाता है और किसी ओर गति नहीं कर पाता। प्रश्न में तो जिज्ञासा है, अभीप्सा है। उससे आदमी बढ़ता और ऊपर को उठता है। किन्तु वही जब संशय बन जाय तब वह खाने लगता है। गांधीजी के साथ का मुझे

यही अनुभव है कि उनकी बात जब कि प्रश्न को मन्द नहीं करती थी तब शंका को अवश्य बन्द कर देती थी। और इस प्रकार व्यक्ति उनके उत्तर को लेकर अपने में अधिक संयुक्त और संकल्प में दृढ़ ही बनता था। मतवादी के पास यह गुण नहीं हो पाता, न विचारवान के पास। यह विशेषता चिद्गुरु के पास ही हो सकती है, जो मत—और विचार की ओर से अपरिग्रही है। बस अनुभूतिशील चैतन्य इससे भरा है। ऐसे लोग भारी नहीं होते, दुरुह और दुर्गम भी नहीं लगते। वे उद्यत, प्रस्तुत, प्रसन्न और सदा ताजा दीखते हैं।

: ३ :

मैंने कहा, “बापू, एक अनुमति चाहता हूँ।”

बापू ने ऊपर श्रोत्र उठाई और मुझे देखा।

“यह चाहता हूँ कि आपके इस कमरे में दो रोज़ को मेरे लिए रोक-टोक न हों। कुछ मुझे बात करना नहीं है। सिर्फ रहना और देखना चाहता हूँ। आपका कुछ हरज होता देखूँगा—कोई प्राइवेट बातचीत।”

“प्राइवेट—मेरे पास नहीं है। सब खुला है”—कहकर वह हँसे। “यह प्राइवेट मानो कि बाथरूम जाता हूँ तो...लोग कुछ अपने साथ बातचीत को प्राइवेट मानना चाहते हों तो बात दूसरी और वह तुम समझ ही लोगे।”

इस तरह दो रोज़ बेलटके मैं उनके कमरे में रहा किया और आया-जाया किया। देखा कि उनका हर-क्षण एक अनुभव था, जैसे सदा जाग्रत। सोते भी सोते न हों, भीतर जागे ही रहते हों। ऐसा नहीं लगता था जैसे कुछ कर्तव्य-निष्ठों के साथ होता है कि वे अतिरिक्त कसे, चुस्त और चौकसी पर हों। तपस्वी का रूप मुझे उनमें नहीं दीखा। या होगा तो भोगी से मिला होगा। अर्थात् हर-क्षण मैंने उन्हें हार्दिक पाया। काम और आराम—ऐसे दो खाने नहीं देखे। कर्तव्य कर्म मानो उन्हें सहज कर्म भी हो। यह स्थिति अत्यन्त विरल है, पर गांधीजी का शरीर-यन्त्र जैसे इतना सधा था कि क्या

कहा जाय । चारों ओर की परिस्थिति चाहने के साथ मानो उन्हें शून्य हो जाती थी । चाहने पर कोई उपस्थिति यहाँ तक की भीड़ भी उन्हें उनकी एकाग्रता से व्युत् नहीं कर सकती थी । जैसे वे लिखते हैं और अयाचित कितने भी आदमी पास आ बैठें तो वे लोग अनुभव किये बिना न रहेंगे कि वहाँ वे नहीं हैं ।

आई एक महिला । भारत के लिए नई मालूम होती थीं । मालूम हुआ—प्रतीक्षा करती रही हैं । आई तो जैसे प्रीति, प्रसन्नता और भय से काँप रही थीं । गांधीजी ने कहा, “आओ, आओ, तुम पर तो रंग है । सब ठीक ? खत मिला था ?”

महिला से सहज उत्तर न बन रहा था । वह इतनी विह्वल और आवेग में थीं । जैसे-तैसे जताया कि पत्र तो नहीं मिला ।

जैसे दुर्घट घटा हो । गांधीजी बोले, “लेकिन वह तो प्रेम-पत्र था । यह न समझना, मैं बुद्धा हूँ ।”

महिला का बदन आरक्त हो रहा । उन्होंने कुछ शब्द कहे । शब्द वे क्या थे शुद्ध आह्लाद का संकोच था ।

सचमुच वह प्रेम-पत्री थी । लम्बी कई सफे की चिट्ठी थी—“अब हिन्दुस्तान में हो । तो यहाँ सेवा करोगी—”

“मैं यहाँ की भाषा तो नहीं जानती ।”

“यह तो और अच्छा है । मुँह आप ही बन्द रहेगा । जैसे भाड़ू लगा रही हो । किसी ने तुम से बात की । तुमने ऐसे दो उँगली मुँह के आगे रख लीं और हाथ हिला दिया । वह समझेगा गुँगी है और तुम्हें इससे लाभ होगा । तुम भाड़ू दिये जाओगी ।”

कहने के साथ गांधीजी ने मुँह पर अपनी उँगलियाँ रख ली थीं और हाथ हिला दिए और बात का अन्त आने तक खिलखिला कर हँस पड़े थे ।

देख सका कि महिला को यह स्वागत बड़ा ही अनोखा लगा, पर उतना ही प्रीति कर भी । वह इतनी गद्गद थीं कि जैसे वह भाव सारे गत पर

छलका आता हो ।

सहसा गम्भीर होकर बोले, “हम अन्तिम हांगे... वहाँ पहले पिछले हो जायेंगे और पिछले पहले... तुम्हारी बायबिल ही है न । यह न समझ लेना, मैं उसका पंडित हूँ । वस यह सरमन आफ दि माउन्ट जानता हूँ... तो अब भारत रहोगी ? और वह तुम्हारा देश होगा । यहाँ दरिद्र हैं, पर दरिद्र मैं नारायण बसते हैं ।”

बीच-बीच में महिला ने कुल्ल-कुल्ल कहा । शब्द वाक्य में सही संयुक्त न हो पाते थे । वह इतनी विभोर थी ।

“तो मेरा प्रेम व्यर्थ नहीं जायगा । हम दोनों काइस्ट की राह पर चलेंगे ।”

महिला अपनी नीली-भूरी आँखों से गांधीजी को देखा की ।

“तो हुआ... अब यह कोना है । बैठो तो एकदम चुप बैठी रहना । बाकी कल ।”

गांधीजी ने कहने के साथ उँगली उठाकर कोना बता दिया और एक-साथ अपने कागजों में डूब रहे ।

क्षण में महिला स्तब्ध हो रही । जैसे अनदुई हो आई । उठों और बताए कोने में चुप-चुपानी जा बैठों । बैठी रह-रहकर देखती रहीं इस गांधी को जो प्रेमी बनता है और उसी से शासन करता है ।

इन दो दिनों के अनेक सम्पर्कों में देख सका कि स्नेह कहीं छलकता नहीं, बहता नहीं । वह स्निग्ध हैं निस्सन्देह पर कठोर भी कम नहीं । वह अतिशय दाखण, अतिशय निर्मम भी हैं ।

आई साग-भाजी की डलिया । उसी सघेरे की ताजा साग-तरकारी । अमुक फार्म से आई थी । मीरा बहिन ने पास लाकर रखी और गाँधी जी के माथे पर तेवर आए । मीरा सकपकाईं ।

“यह क्या है ?”

“देखकर बता दीजिए । और—क्या बनेगा ?”

“सब सुभसे पूछा जायगा ?” गांधी जी ने ऐसे कहा जैसे सब अन्तिम

हो। “सीखा न जायगा ? वक्त फालतू है, मेरे पास ?”

कहकर टोकरी को पास खींचा। पालक का पत्ता बीच से मोड़ा, जो हलकी-सी चटख देकर टूट आया। दूसरा दूसरे फिनारे से लिया और उसी तरह मोड़कर देखा। कहा, “ऐसे जो टूट जायँ, ठीक हैं। मुड़ जायँ, वे रहने देना। इतना तुम्हें जानना चाहिए। सब्जी के साथ यही पहिचान है और यों ही मेरे पास न आ धमका करो ?”

मीरा बहन को जरा मौका न मिला। वह पसीने-पसीने हो गईं। सफाई दी नहीं जा सकती थी क्योंकि ली नहीं जा सकती थी।

यह निर्मम व्यवहार हाकिमाना न था, पर उससे भी ऊँची हकूमत उसमें थी। यह उन दो व्यक्तियों के बीच न था जिनमें अन्तर सामाजिक अथवा इतर श्रेणियों के कारण है। कोई निर्वैयक्तिक विवशता उसमें न थी और मानो दोनों ओर से पूरी व्यक्तिगत स्वेच्छा से था। वह व्यवहार सम्पूर्णतः प्रेम का था। इसी से सर्वथा अनुलंघनीय था और हर प्रकार के बन्धन से मुक्त।

: ४ :

कहा गया कि डॉक्टर तैयार है। जब आपको सुविधा हो। गाँधी जी तकिए से सीधे हुए। बोले, “सुविधा—अभी है।”

डॉक्टर के यहाँ आते ही गाँधी जी कुर्सी पर बैठ गए और डॉक्टर तैयारी में लगा। तभी गुप्त से एक बन्धु ने आकर कान में कहा, “ऐसा न हो, जैनेन्द्र, दाँत डॉक्टर के पास ही रह जाय।”

मुझे दिलचस्पी हुई। कहा, “डॉक्टर उसे रखना तो चाह सकते हैं।”

मित्र फुसफुसाकर बोले, “यही तो, लेकिन दाँत उनके पास जाना नहीं चाहिए।”

बात में मेरा रस बढ़ा। मैंने उन्हें निश्चिन्त किया और स्वयं सावधान रहा।

बुढ़ापे के दाँत। क्या विशेष समय लगगा या कष्ट होगा था। दाँत खिंचकर आया कि मैं बढ़ा। कहा, “लाइए, धो दूँ।”

सहज भाव से गाँधी जी का वह दाँत मेरे हाथ आ गया। मैंने उसे धोया-पोंछा, रुई में रखा और फिर छोटे लिफाफे में एतिहास से डाल जेब में रख लिया।

चौबीस घण्टे तक तो धड़कते दिल के ऊपर वाली कुर्ते की जेब में वह पड़ा रहा। अनन्तर प्रातःकाल आप एक माननीय बन्धु, पूछने लगे, “वह—दाँत क्या आपके पास है?”

कहा, “जी, सर्वथा सुरक्षित है। भय की बात नहीं है।” उनके आशय को मैंने समझकर भी नहीं समझा। उन्हें भी ज्यादा उधाड़कर कहने का शायद उपाय न सूझा।

वह दाँत फिर तो मालूम हुआ अच्छों-अच्छों की महत्वाकांक्षा का विषय बन गया। यह भी ज्ञात हुआ कि नेपथ्य में प्रस्ताव हुआ है कि जैनेन्द्र अनधिकारी है और दाँत ऐतिहासिक है। उस वस्तु की ऐतिहासिकता और अपनी अनधिकारिता से मैं अवगत था। इससे अन्दर निर्बल था और अविश्वस्त था फिर भी मैं सोया बना रहा। मानो बहरा हूँ, कहीं कुछ सुन नहीं पाता।

फिर बन्धु मिले और अदल-बदल कर मिले। और हर बार मैंने आश्वासन दिया कि वस्तु अतीव सुरक्षित है। बन्धु निरुपाय लौट जाते और मैं अबोध बना रहता।

पर बात छोटी भी गहन हो सकती है। वही हो रहा था। ऊँचे-से-ऊँचे क्षेत्र विचलित हो गए थे। इन्द्रासन तक डोल गया।

एक रोज़ बातों-बातों में अकस्मात् गांधी जी पूछ बैठे, “जैनेन्द्र, वह दाँत तुम्हारे पास है?”

बचाव-सा करते हुए मैंने कहा, “जी है तो।”

“अभी है?”

“जी—आप क्या कीजिएगा?”

“क्या करूँगा? वापस मुँह में तो लगा नहीं पाऊँगा।”

साहस बौधकर कहा, “तो फिर रहने ही न दीजिए जैसा कहीं और

वैसा मेरे पार।”

बोले, “आखिर मई, है तो वह मेरा न ? हो तो लाओ !”

देखा, सामने का व्यक्ति कोरा महात्मा नहीं है, गहरा वकील है । तिस पर और भी जाने क्या नहीं है ? एकदम अनुल्लंघनीय ही है । चुपचाप पुड़िया को जेब से बाहर किया आंर गांधी जी के आगे कर दिया ।

गांधी ऐतिहासिक थे । दाँत ऐतिहासिक होता । रांची-स्टूप में बुद्ध का दाँत ही है न । जिसकी हज़ारों वर्षों बाद ऐसे महामहिम ममारोद से प्रतिष्ठा हुई कि जग उसमें शामिल हुआ । पर गांधी को शापद इतिहास से लेना-देना न था या इतिहास को वह सुक्त चाहते थे, कोई ठेकन उसे न देना चाहते थे कि उसका गहारा लेकर वह लंगड़ा बना रहे ।

उन्होंने अपने एक अत्यन्त विश्वस्त व्यक्ति को दाँत दिया । कहा, “देखो किसी गहरे कुएँ में इसे डाल आओ ।”

उस व्यक्ति ने कर्तव्य पूरा किया होगा और वह निश्चिन्त हुआ होगा, लेकिन मानो गांधी जी कई दिन तक निश्चिन्त न थे । तीन-चार रोज़ के बाद उस व्यक्ति से पूछ बैठे, “दाँत वह कुएँ में फेंक दिया था, न ?”

“हाँ ।”

“गहरे कुएँ में ?”

“हाँ ।”

“ठीक याद है ? फेंक दिया था ?”

व्यक्ति ने ‘हाँ’ कहा और गांधी जी ने गहरी-साँस ली । मानो उन्हें जगत् की ओर से दारस न हो । मानो वह अपनी ओर से सब हल्की सम्भावनाओं को समाप्त कर देना चाहते हों । दुनिया के मोह और आसक्ति की पकड़ के लिए वह कुछ छूटने न देना चाहते हों, पर जगत् की नाना आसक्तियों की विवशता भी देखते हों । और हठात् अनुकम्पा से भीग आते हों ।

उनकी दृष्टि जितनी सूक्ष्म थी उतनी ही निर्मम । मैल का कहीं छीटा भी वह नहीं सह सकते थे । मैल था उन्हें सिर्फ असत, अन्यथा घोर-से-घोर

दुष्कर्म के प्रति वह सद्य और सहृदय थे। इस सहृदयता और निर्ममता का योग कैसे सध सकता है ? यह जानना मानो गांधी जी को जानने से सम्भव हो सकता है।

इन्हीं दिनों की बात है। मैं फिर हरिजन-बस्ती नहीं गया। दिन बीतते गये और अखबारों से मालूम हुआ कि अगले दिन गांधी जी जाने वाले हैं। उसी दोपहर एक पत्र मिला, जिसको पाकर मैं चकित रह गया। गांधी जी का मुझे यह पहला पत्र था और किसी उत्तर में न था। पढ़कर मैं सन्न रह गया। कोई पुस्तक मैंने उन्हें न दी थी। उतनी सूझ-बूझ ही मुझ में न थी और न साहस था। जोर डालकर याद किया कि किसी कार्यकर्ता ने 'बा हिन्दी सीखना चाहती और उसके लिए किताब चाहती हैं' कहकर तभी लुपी 'दो चिड़िया' की एक प्रति ली थी। बा के हाथ में देखकर शायद बापू ने उसे लेकर कुछ उलट-पलट लिया होगा कि भट यह खत लिख डाला। मैं आज भी सोचता हूँ तो दंग रह जाता हूँ। यह इतना लम्बा-चौड़ा देश भारतवर्ष कैसे उस व्यक्ति पर रीझा रहा ? उसके इशारे में यातनाओं पर यातनाएँ उठाता गया फिर भी उत्सर्ग की हौस से भरा रहा—मानो इस भेद उसमें छिपा था। यह दुनिया, जिसे धृणा करने से शायद ही कोई बच पाता है, मानो उनके लिए 'प्रिया' थी। और वह ऐसे प्रेमी थे जो उस तिरस्कृता और तिरस्करणीया का प्रेम जीतने के लिये जी-जान की बाजी लगाए बैठे थे। मानो उसका वरण उनका लक्ष्य है, वह उनकी परीक्षा है। उनकी अनासक्ति मानो उन्हें दुनिया को रिझाने की नई-नई कलाओं की सूझ देती रहती है। दिन के आठों-पहर जगे रहने वाले वह प्रेमी थे। एक क्षण भी आँख नहीं भपकते। क्या इसी का प्रतिफल न था कि उन योगी-जैसा दूसरा लोक-संग्रहाक आदमी इतिहास में नहीं मिल सकता। डोरे डालना कहते हैं न—मानो सारे संसार पर वह अपने डोरे डालते रहते थे। और कौन भलामानस बचा, जो उस डोर में विवश खिंचा न चला आया। पुस्तक तो साधारण थी पर स्नेह और आशीर्वाद तो उनमें किनारों से भी ऊपर तक भरा था कि सब ओर फैले बिना न रह सकता था। उनके उत्साह

और असीस के दान से ही न उभर कर भारत ने असम्भव को सम्भव न कर दिखाया ? यह उनकी अमिट प्रीति और अमिट श्रद्धा का ही फल न था ?

फिर गांधी जी चले गए और अरसा हो गया । मुझे अपने पर शर्म थी । कारण, उन्हें आशा दिलाई थी कि मैं गाँव में बैठूँगा और सेवा अपनाऊँगा । और वैसा कुछ हो न सका था । और जानता था कि गांधी जी का सामना अब कभी मुझ से न होगा ।

: ५ :

लेकिन प्रेमचन्द जी का देहान्त हुआ । और श्रद्धा विभोर कुछ बन्धुओं की अर्ध्याञ्जलि-रूप कुछ धन-राशि चली आई और आवश्यक हुआ कि प्रेमचन्द-स्मारक की बात सोची जाय । उस सम्बन्ध से काशी में फिर उन्हें अपना मुँह दिखाना हुआ । उसके बाद फैजपुर-कांग्रेस में उनकी घोर व्यस्तताओं के बीच योजना-संकट उनके समक्ष रखा । तब हुआ अमुक तिथि को वर्धा में सविस्तार बातें हों । वर्धा पहुँचने पर मिले जमनालाल जी । बोले — ‘बम्बई का तुम्हारा पता ही न मालूम था । गांधी जी बड़े चिन्तित थे । फल ही उन्हें पूना जाना पड़ा है । कह गए हैं कि तुम जरूरी समझो तो पूना आ जाओ । देखते ही हो मजबूरी में उन्हें जाना पड़ा है ।’

मैं पूना चल पड़ा । स्टेशन आ रहा था और मैं सोच रहा था कि कहाँ कैसे जाना होगा । स्टेशन आ ही गया और मैं प्लेटफार्म पर उतरा । सिक्रेट-रूम न हुआ होगा कि एक भाई ने आकर नमस्कार किया । कहा, ‘आप जैनेन्द्र जी हैं न ? आइए !’

मैंने असमन्वय में कहा, ‘आप ?... मुझे जानते हैं ?’

‘मैं फलू हूँ । बापू ने सब बता दिया था ।’

मुझे कुतूहल हुआ । पूछ कर मालूम किया कि गांधी जी ने पहनावा और हुलिया का पूरा बखान देकर फलू भाई को भेजा था । अब भी सोचता हूँ, क्या उन्हें इतनी फुरसत थी ? क्यों वह इतने हृदयहीन थे कि इन-जैसी बातों के लिये भी फुरसत निकाल लेते थे ? उनकी सहृदयता मुझ-जैसे तुच्छ

जनों पर कितनी भारी होकर पड़ती होगी, क्या इसका उन्हें अनुमान हो सकता था ? पर अनुमान हो सकता था, होता था । तभी वह उस अपनी निर्मम आहिंसा को अपनाए हुए थे, जिससे भारी कोई हिंसा भी नहीं हो सकती । फिर उससे सख्त-से-सख्त आदमी गले बिना नहीं रह पाता ।

उस समय फिर मेरे मन में अंग्रेजी साप्ताहिक निकालने की वासना जगी थी । वासना ही कहता हूँ, क्योंकि भावना होती तो सहज न बुझती, न उससे विरत हो सका जाता । एक बार इससे पहले भी ऐसा सोच चुका था और गांधीजी के सामने उस विचार को रखने की भूल कर चुका था । उन्होंने निरुत्साहित किया था । इस बार भी गांधीजी ने कहा—

“अंग्रेजी क्यों, हिन्दी क्यों नहीं ?”

मैंने कहा, “अंग्रेजी में बात उन तक पहुँचती है जहाँ उसे पहुँचना चाहिए ।”

“इसीलिए तो कहता हूँ, अंग्रेजी में नहीं, जरूरी समझो तो हिन्दी में निकालो । जिन तक पहुँचनी चाहिए वह तो हिन्दी में ही पहुँचेगी । अंग्रेजी वालों को जरूरत होगी तो वे देखेंगे ।”

“तो आपकी अनुमति नहीं ?”

“मेरी तो राय है, अनुमति अपने अन्दर से लो । मैंने तो अपनी कह दी, निर्णय के लिए तुम स्वयं हो ।”

यह उनका अत्यन्त व्यस्त समय था । एक-एक मिनट का मूल्य था । पर उन्होंने अपनी ओर से पूछा, “दया क्या वहाँ है—पिता के पास ? सब ठीक है न ?”

जो जानता था, मैंने बताया । उन्होंने गहरी साँस ली । फिर पूछा—
“अभी आज ही चले जाओगे ?”

“जी, और क्या ?”

हँसकर बोले, “ठीक है । कहीं ठहरना क्या ?”

दूसरी बात जो उस समय हुई, प्रेमचन्द-स्मारक के सम्बन्ध में थी । असल में उसी उद्देश्य से यह यात्रा हुई थी । पर वह अलग कहानी है

और दुखकर। गांधी जी खिन्न थे, पर क्या कर सकते थे। हिन्दी और उर्दू प्रेमचन्द को लेकर अगर बीच की खाई न पाट सकें और अपनी अन-बन न भर सकें तो क्या किया जा सकता था। मेरी कोशिश यही थी, पर होनहार का अपना तर्क होता है। कोशिश में दिशा ही सही हो सकती है, इससे आगे आदमी का क्या बस !

ऐसे धीरे-धीरे शरम धुल गई और अवसर की भजबूरी से फिर मैं बापू के सामने हो पड़ा। या हो सकता है, यह इससे पहले की बात हो। वर्षा से सेवाग्राम का रास्ता तब पगडण्डी का था और वह भी साफ नहीं। चले तब ऐसा अँधेरा तो न हुआ था, और विज्ञ-जन राथ थे; फिर भी हम राह भटक गए और आवश्यक से दुगुनी दूरी पार कर रात-अँधेरे बापू की कुटिया पर जाकर लगे। तब सेवाग्राम बसा न था, कुटिया एक ही थी। मुझे तब प्यास लग आई थी; बा ने पानी दिया और फिर मैं डरता डरता कुटिया पार कर आगे बढ़ा।

देखा, बापू बाहर खुले मैदान में बैठे थे। पास आते-आते भोच रहा था, हाथ जोड़कर प्रणाम करें, कि मण्डली से धीरे बापू आँख उठाकर बोले, “तभी तो ! मैंने कहा कि कोई आया है। लालटेन दीग्री थी न—तो तुम हो ! बैठो। लेकिन बात अभी नहीं।” और अब जाओगे वापस क्या, रात यहीं रहना है न ?”

देखा कि क्षण में सब हो गया है। स्वास्थ्य का लाभ हो गया है और अनिश्चय कटकर निश्चय प्राप्त हो गया है।

इसी अवसर पर याद है, मैंने पूछा था, “बापू, आप से इतना डर क्यों लगता है ?”

पलट कर बोले, “लगता है डर ?”

मैंने कहा, “हाँ, बहुत लगता है।”

बोले, “तभी तो मैं बचा भी हुआ हूँ !”

धक-से मुझ सारे की बिजली छू गई। कभी ऐसे उत्तर की अपेक्षा न थी। आज भी लगता है कि दुनिया में कोई नहीं है, एक गांधी के सिवा,

जो ऐसा उत्तर दे सकता है। इतनी क्रूरता क्रूर में सम्भव नहीं हो सकती। सत्य के अहिंसक राशिक मे ही इतनी अनासक्त यथार्थवादिता हो सकती है। ऐसी पैनी कि छुरी की धार नया हांगी !

: ६ :

एक जमाना था कि भापा का ऋगड़ा गर्म था। ऋगड़ा यों अश्व भी हो, पर जैसे तश वह तपकर लाल सुर्ख हो आया था। ऋगड़े का मूल मन में होता है, उतरता ही जिरा-तिस नाम पर है; और नहीं तो भापा ही सही। है यह अचरज की बात, क्योंकि भापा मेल की जरूरत में से बनी है। आदमी हिलमिल कर ही जी सकता है। वह इस तरह स्वतन्त्र नहीं कि जैसे जानवर। इसलिए उसका तन्त्र 'स्व' से नहीं 'परस्पर' में से बनता है। अलग से हम पास जा रहे हैं और भापाएँ अपनी सीमाएँ खोती हुई एक-दूसरे में मानो समाई जा रही है। यह प्रक्रिया रोकी नहीं जा सकती; कारण, विकास नहीं रोका जा सकता। भापा पर अपना स्वतन्त्र लाद कर बैठेंगे तो गति के साथ हम ही नहीं चल पाएँगे, ओछे रहकर इधर ही छूट रहेंगे। फिर भी वर्तमान से कभी हम इतने चिपटते हैं कि भविष्य को अपने हाथों ही रोक देते हैं। जो अधुनातन नूतन से डर आता है वह उसी क्षण पुरातन होकर सनातनता पर जड़ शक् की भाँति बोझ बन उठता है। सनातन को तो सतत सद्य रहना है, इसलिए पुरातन को शय बनने से पूर्व ही नूतन में रूपान्तरित होते जाना है। वर्तमान पर आसन लगाकर बैठने वाले लोग यदि इसकी नहीं समझते तो वे भवितव्यता के हाथों अन्त में समाधिस्थ होते हैं।

जो हो, हिन्दी-उर्दू का ऋगड़ा था और हिन्दुस्तानी शब्द दोनों को चुमता था। मैं यों लेखक हिन्दी का समझा जाता था, पर वह हिन्दी जानता भला मैं क्या था? बोलता था करीब वैसे ही लिख जाता था। भापा का कोई ज्ञान पाया नहीं था। इस अज्ञान में से देखा कि मुझे 'हिन्दुस्तानी' अपनाने में कोई बाधा नहीं है; बल्कि कुछ सुभीता ही है।

उस शब्द का उपयोग गांधी जी द्वारा होने में सुदृढ़ की देर थी कि तभी, शायद सन् ३३-३४ में, प्रेमचन्द आदि हम लोगों ने एक-आध हिन्दुस्तानी-सभा बना डाली थी।

इसी कारण शायद होगा कि वर्धा में हिन्दुस्तानी-प्रचार-सभा बनी तो काका साहब (काका कालेलकर) की तरफ से पत्र आया और फार्म आया कि मेम्बर बन जाओ।

मैंने लिख दिया कि 'हिन्दुस्तानी' में मेरी श्रद्धा है, मेम्बरी में नहीं है। भाषा के विषय में मुझे अपने लिए कुछ करने को है भी नहीं, इसलिए माफ़ करें।

काका ने लौटकर लिखा कि गांधी जी की इच्छा है, फार्म भर भेजो।

फार्म भर दिया और फीस भेज दी, लेकिन खबर आने पर उसकी बैठक में जाकर शामिल होने का बहुत उत्साह नहीं हुआ। तिसपर बैठक सेवाग्राम में होनी थी। सोचा—बाबा रे! गांधी का सामना कैसे होगा? याद नहीं कि वैसा लिखा कि नहीं, पर मन में स्पष्ट अनुमान किया कि अगर किसी बैठक में जाऊँगा ही तो तब जब गांधी जी से वह स्वतन्त्र हो और सेवाग्राम से अन्यत्र। पर यह छूट टिका नहीं। दूसरी या तीसरी बैठक की सूचना पर सेवाग्राम बापू की कुटिया में उपस्थित हो गया।

तब पास महादेव देसाई ही थे। बापू ने आँखें उठाकर मुस्कराहट से पूछा, “कहो कैसे आए हो?”

“वह—हिन्दुस्तानी की बैठक है ना!”

“उसके ही लिए आ गए हो?”

“हाँ, क्यों?”

“—तब तो हिन्दुस्तानी में भी जरूर कुछ है। योगी जो आ गया है।”

सुनकर मैं सन्न रह गया, जैसे शब्द भीतर तक मुझे काट गया। उसमें व्यंग तो था ही, पर गांधी जी की ओर से जैसे सत्यता भी उसमें पड़ गई हो। यही तो उनकी मोहनी थी। इसी मंत्र से सामान्य मनुष्य में से वह

अमित सम्भावनाओं को प्रत्यक्ष कर निकालते थे। उनकी अगम-निष्ठा में से असम्भव सम्भव हो उठता था। मैं विगलित होता चला गया। भैंस की हड न थी। गांधी जी की आँखें हँस रही थीं, मानो मेरा मैल अगदर गल रहा हो। सम्भावनाएँ जो तल में दनी थीं मानो उभक उठना चाहती हों। तब समझ में आया कि पारस क्या होता होगा। क्या होता होगा कि जिसके परस-भर से लोहा सोना हो जाय। सामान्य मनुजों के इस भारत देश ने जो चमत्कार कर दिखाया वह गांधी के किस जादू से सम्भव हुआ होगा—यह समझ में आ गया।

सन् '४२ के वे दिन थे। जुलाई का अन्त आ रहा था। कल इसी कुटी में कांग्रेस की कार्यसमिति बैठी थी। सप्ताह बाद बम्बई में 'क्विट इण्डिया' (भारत छोड़ो) की जुनौती बज जाने वाली थी। 'करो या मरो' का आवाहन देश में गूँज जाने वाला था। गांधी उस समय भीतर से क्या न रहे होंगे, पर बाहर शान्त मुस्कराहट थी। बोले, "ठहर रहे हो न ? या—"

"शाम ही चले जाने की सोचता था।"

"कल रह सकते हो तो कल मिलो। मिलोगे—तीसरे पहर?"

"जो आज्ञा।"

पहले कहीं डोरे डालना लिखा है, वही शुरू हुआ। ऐसे बारीक डोरे कि क्या मकड़ी बना सकती है। कह सकता हूँ कि वे तार निरे अनासक्त प्यार के बने थे। वे बन्धन नहीं बनते, केवल सुरक्षा पहुँचाते हैं। मानो वे आशवासन और वात्सल्य के थे। आज इसे मैं अपने जीवन का बड़ा दुर्भाग्य मानता हूँ, तब अपनी विजय माना था, कि मैं उन डोरों से खिंचकर गांधी जी के मन के और निकट न पहुँच सका। उस समय अपने में अभिमान जगाकर जैसे मैं सावचेत हो आया था। उनकी कल्पना में था कि दिल्ली में यह और बढ़ हो सकता है, और उस सबको मैं अपने कन्धों सम्भाल लूँगा।

उन्होंने पूछा कि मेरा अपना क्या विचार है ?

मैं तब और तरह की खाम-ख्यालियों में था, बताया कि मैं अपने बारे में तो ऐसा सोच रहा हूँ ।

सुनकर क्षण के सूक्ष्म भाग तक भी उन्होंने देर नहीं लगाई । डोरे अपने सब समेट लिए । मेरी स्वतन्त्रता मुझ में मानो और परिपूर्ण हो आई । तनिक भी आरोप उनका मुझ पर दबाव न देता रहे, इस आतुरता में उन्होंने कहा, “हाँ, यह तो और भी अच्छा है । तब तो, देखो...अमुक से मिलो । वह ठीक कर देंगे ।”

मैंने इस प्रोत्साहन पर गान्धी जी को देखा । उनकी आँखों में निर्मल स्नेह छलकता दीखा । देख सका आत्मत्याग में उन्हें कष्ट नहीं होता, बल्कि उसी में मानो आत्मलालम की-सी प्ररान्नता होती है । गान्धी जी बेहद व्यवहारी थे, पर मानो उनके व्यवहार-कौशल का भेद ही यह था कि वह सबको स्वयं रहने देते थे, बाहर से अपना तनिक स्वतारोपण उस पर न जाने देते थे । और इस प्रकार व्यक्ति उनकी उपस्थिति में उनका योग पाकर मानो अपने को स्वयं अपने से बढ़ा हुआ और उत्कृष्ट अनुभव कर आता था । इसे अहिंसा की कीमिया नहीं तो और क्या कहें ।

शामका समय आगया । कुटिया से गान्धीजी बाहर हुए, बाँलों की बाड़ तक बढ़कर आए और खड़े हो गए । हाथ में लाठी । बदन का उपरना हलकी हवा से लहराता हुआ । चेहरा उनका कुटिया की तरफ मुड़ा—सौम्य और शान्त और गम्भीर । चारों तरफ सुनसान । न जाने मुझे क्या हुआ । मैंने उस निपट आदमी को देखा । जी जैसे उमड़ा आता हो । मानो आँखें भरे आ रहे हों । ऐसा लगा कि कितना यह आदमी एकाकी है । कोई, कहीं, कुछ उसका नहीं है । यहाँ का ही वह नहीं है । लगा कि इतना अकेला, इतना अकेला !...जी विह्वल हो आया । लाठी के सहारे घामने खड़े, उभड़े से बदन, उस चिरप्रवांसी एकाकी व्यक्ति के लिए मन में बेहद करुणा उमड़ी । वह महापुरुष है जबकि मैं बालक हूँ, इसकी कहीं सुध न रही । मानो वह शिशु ही और हम संसारियों में उसके लिए करुणा ही हो सकती हो । जी हुआ कि चलकर उसे पुचकारें, थपकें और तरस में उसके साथ थोड़ा-सा रो लें । वह

इतना गिरीह, अकिंचन, असहाय और प्रवासी जान पड़ता था। मानो उसका महारा बस एक भगवान् हो, जो अव्यक्त हैं और जिसे चाहें तो हमी अपने भीतर से व्यक्त कर सकते हैं।

वह क्षण मुझे भूलता नहीं है। उस भाव के लिए किमी ओर से मैं संगति नहीं पाता हूँ। वह अतर्क्य है, लेकिन फिर भी वह सच था, सच है, और सच रहने वाला है।

: ७ :

दिल्ली की बात है।

मैंने कहा, “ग़ाफ़, सत्य का आग्रह तो जीवन के साथ है। किसी क्षण वह रुकता नहीं, अनावश्यक नहीं होता। सत्य के उठी अनुगमन में आपके लिए असहयोग आ गया, संघर्ष आ गया। सत्य की वह चुनौती तो मौजूद ही है, विदेशी हुकूमत सिर पर बैठी है। फिर यह क्या बात है कि एक साल के लिए आपने संघर्ष को और राज-कारण को अपने लिए निषिद्ध बना लिया है। होगा तो वह भी सत्याग्रह का रूप, लेकिन.....”

आँख उठी। बोले, “मानते हो कि वह भी सत्याग्रह का रूप होगा?”

“मानना तो होगा ही, क्योंकि उसके बिना आपके लिए श्वास कहाँ। लेकिन यह आप जैसे ‘डिटरमिन’ करते हैं कि वह आग्रह था तो प्रवृत्त संघर्ष के रूप में होगा और तब उसका स्वरूप निवृत्त और निष्क्रिय होगा।”

यह सब की बात है, जब गान्धी जी के उपवास के कारण उन्हें हुकूमत ने जेल से रिहा कर दिया था और गान्धी जी ने स्वेच्छा से सजा की शर्त के लिए हरिजग-सेवा के काम के सिवा दूसरे सब राजनीतिक समझे जाने वाले कामों से उपरत रहने का निश्चय किया था।

प्रश्न पर तत्क्षण गान्धी जी बोले, “पर ‘डिटरमिन’ करता कहाँ हूँ, ‘डिटरमिन्ड’ पाता हूँ।”

उत्तर सुनकर खन्न रह जाना पड़ा। यह उत्तर एक गान्धी का ही हो सकता था। देख लिया कि उसकी थाह नहीं है, क्योंकि वह स्वयं में ही

नहीं है। नाम-मर के लिए स्वयं है, बस इतना कि व्यवहार टिक सके। बिन्दु वही तो है जो जगह तक न ले। मानो गान्धी ज्यामिति का आदर्श बिन्दु हो, तनिक भी अवकाश उसे अपने लिए घेरना नहीं है। भय उसका है जो सब में है। उसका आपा भी उस बड़े उसका है। यानी वह सब में है, सबका है। तभी तो कह दिया—‘डिटरमिन’ करता नहीं, ‘डिटरमिण्ड’ पाता हूँ, और कहकर जैसे सदा के लिए ‘मैं’ को अपने से और शेष में निःशेष कर दिया।

उस उत्तर को छूकर मैं सन्न-सहमा रह गया। कुछ देर कुछ भी न सूझ पड़ा। जैसे व्यक्ति में विराट् समक्ष हो और उसके आकस्मिक दर्शन ने सब सुध-बुध हर ली हो। फिर बोला नहीं गया, अवसन्न बैठा रहा, और कुछ अनन्तर बस चुप-चाप उठकर चला आया। वह अवसन्नता की अनुभूति—याद कर सकता हूँ—जल्दी मुझ से उतरी नहीं, बहुत देर तक साथ भनी रही।

: ८ :

उसी दिल्ली प्रवास के समय। भोजन के अनन्तर विश्राम की बेला थी। मीरा बहन थीं शायद, हल्के-हल्के पाँवों की मालिश कर रहीं थीं।

मैं कह रहा था, “बापू, आप के पास यथावश्यक से अधिक नहीं टिकता और वह आवश्यक कम-से-कम होता है। जैसे कि कपड़ा—जोरुरत से उसे कम ही कहना होगा। जैसे आप का तन, जैसे आपके सिर के बाल, मूँछ, चोटी। जो है अनिवार्य कारण से है, और मानो बस होने भर के लिए है; ऐसा क्यों है?”

गान्धी जी बोले, “क्यों क्या ? है, इसलिए है।”

“बस इतना ही?”

“और क्या—?”

“क्या हो सकता था कि आपके दाढ़ी होती?”

गान्धी जी जैसे कुछ सोचते रहे। बोले, “साउथ अफ्रीका में जेल में दाढ़ी हो गई थी—पर आशय अपना साफ कहो।”

“जात यह कि—जैसे रवीन्द्रनाथ हैं। बाल उनके बड़े हैं, अपने से उन्हें छोटा करने की उनको सूझी नहीं। दाढ़ी, तो खुली छाती तक आती हुई। कपड़े, तो इतने फैले कि उसमें उन जितने दो तन समा जायें ! यह सब क्या यों ही मान लिया जाय, कि है इसलिए है ?”

गांधी जी की आँखों में मुस्कराहट थी। बोले, “मतलब कहो।”

“आप अपरिग्रह चाहते हैं। जरूरत से ज्यादा लेना या रखना चोरी है। आप सत्य चाहते हैं, स्वत्व नहीं चाहते। सब में स्वत्व को खो देना चाहिए, यह आपकी निष्ठा है। कहीं ऐसा तो नहीं कि अनिवार्य है कि वही विचार आपके रहन-सहन में झलके। जैसे कि रवीन्द्रनाथ में निषेध नहीं है, सबका स्वीकार है—प्रकृति का और प्रकृत का। सबका और सबके प्रति उनमें आवाहन है। इससे यथावश्यक की जगह वहाँ अतिशय हो तो यह सहज और स्वाभाविक ही हो सकता है।”

गांधी जी लेते हुए थे। पलकें झपकने के निकट थीं। हौले से पलक उठाकर और सिर हिलाकर बोले, “हाँ, सो तो है। सो तो होगा।”

मैंने उन्हें देखकर कहा, “आपका विश्राम का समय है। नींद में मैं बाधक न बनूँगा—मैं चले।”

बोले, “नहीं, बाधक न बनोगे। अपनी कहते जा सकते हो। नींद अपने समय से आ जायगी। आने पर तुम समझ ही जाओगे। तब चाहो तो उठ जाना।”

और मेरे देखते-देखते चन्द सिकेरडों में नींद चुपचाप चली आई। शिशुवत् वह सो गए, और मैं अचरमे में रह गया। नींद भी इस तरह किसी की चेरी हो सकती है, यह मैं सम्भव न मानता था। लगभग तभी मीरा बहन के हाथ रुक गए। समझ गया नींद समय से आई है। समय होने पर उसे उसी तरह चले जाना भी होगा। गांधी जी की ओर से उस बेचारी का भी समय नियुक्त है। यह अधिकार, यह करुणा गांधी जी कहाँ से कैसे पा सके थे !

: ६ :

जीवन के अन्तिम दिनों में गांधी जी को लम्बी अवधि यहाँ रहना पड़ा। हर शाम प्रार्थना-सभा में उनके महत्वपूर्ण वक्तव्य होते। स्थिति संकट की थी। स्वराज्य नया था और भिल नहीं रहा था। जाने कितनी गई समस्याएँ निपटारे के लिए उन तक आती थीं। वह मानो श्रुत थे और भारत का जहाज उनसे छुटकर डगमगा रहा था। हिन्दुस्तान फटकर पाकिस्तान बना था। बटवारा यह ऐने न हुआ था जैसे दो भाइयों में होता है; मानो आरी से चीरकर दिल को दो में काटा गया था। उसमें से कितनी न आग निकल रही होगी और कितनी आह। गांधी डम भुलाए और तपन के बीच थे; एक प्रार्थना में सान्त्वना थी, यों जल रहे थे।

पत्रों में प्रार्थना वाले भाषण उनके पढ़ता, पर स्वयं प्रार्थना-सभा में जाने का साहस न जुटा पाता। हजारों लोग जाते थे, फिर वहाँ जाने में साहस की क्या बात थी? फिर भी मेरे लिए वह साहस की छी बात थी।

आखिर एक दिन साथी मिले और बचाव न मिला तो प्रार्थना-सभा में मैं पहुँच सका। प्रार्थना हुई। गीता के श्लोक हुए, बौद्ध-स्तवन हुआ, कुरान की आयतें हुईं, भजन हुआ और गांधी जी का प्रवचन भी हुआ। सभा उठी। गांधी जी उठे। पीछे की ओर लोग बनकर दो पातों में हो रहे कि गांधी जी सुविधा से जा सकें। निगाह नीची किए गांधी जी उस गली में से अपने डेरे की ओर चले। तभी पास खड़ी महिला की गोद में से बच्ची ने पुकारा—“बापू !”

बापू एक-आध डग आगे बढ़ गए थे, मानो गहनता में ऐसे लीन थे। सहसा डग उनका थमा। वह पीछे की ओर मुड़े। चेहरा खिल आया। दोनों हाथों को अपने चेहरे के दोनों ओर लाकर, मानो बन्दर हों, उस बच्ची की ओर मुँह बढ़ाकर बोले—“हल !”

बच्ची सहमी, फिर खुशी से खिल उठी, लेकिन बच्ची के बापू उसके साथ क्षण-भर के लिए बन्दर बनकर आगे जा चुके थे। उसी तरह गहन, लीन और अगाध !

: १० :

३० जनवरी सन् १९४८। किसी ने शाम को कहा—“अरे सुना बुल्लू ! गांधी जी गए !” लेकिन मैंने यह नहीं सुना। उसने ज़िद से कहा—“न मानो तो रेडियो पर सुन लो।”

ज़िद से ज्यादा उस कहने में रंज था। टालना उसका सम्भव न हो सकता था। तभी, उस कहने से निरपेक्ष, अन्दर लग आया कि हाँ, गांधी जी गए। पर क्या सच ? मन सच जानता था, फिर भी हट से शंका करना चाहता था। रेडियो खोला, वह रो रहा था।

सुना और वहाँ से हट गया। दूर, जहाँ कुछ न सुनाई दे। पर कोने में अकेले मुँह डालकर बैठ जाने से भी न हुआ। क्या करूँ ? अपना क्या करूँ ? और यह जो चारों तरफ है, समय और शून्य, उसका क्या करूँ ? उठकर निकल आया नगर से बाहर निर्जन में। पर मालूम हुआ कि यहाँ भी सब घुट गया है, वहाँ खुला बाकी नहीं है। उस रात नौद तो आई, पर वह नौद-जैसी नहीं थी, वह जगी-सी थी और दुखती थी—मानो सपनों की लड़ी हो। सवेरे धड़ी में जब देखा चार बजे हैं, तो उठा। पर सोचा जल्दी है, अभी चलना ठीक न होगा। चार को किसी तरह साढ़े चार तक टाल सका, फिर पाँच-पाँच चल दिया, मानो सब राहें उधर ही जाती हों। मानो, दुनिया का जीवन एक अतल रिक्त को पाकर उस पर केन्द्रित आवर्त बन आया हो। मानो समस्त चेतना एक शून्य पर आ टिकी हो, और राग घुट गया हो।

भीड़ का ठिकाना न था, पर उस भीड़ में से भीड़पन गायब था। गोना सब अपने-अपने में हों और कोई दूसरे में चुभता न हो। सब संयत और शान्त और मानो समाप्त होने को तैयार हों। वे बेशर्त भाव से चले जा रहे थे; मानो कोई मृत्यु क्यों उन्हें जीती छोड़ गई, यही पूछने बाते हों।

एक भूले भाई ने प्रार्थना के समय गोली मारकर उन्हें शान्त कर दिया था। नाम उसका गोडसे था, और उसे फाँसी लग गई। पर ये बेकार की

बातें हैं। वैसे जीवन का और भिन्न अन्त न होने वाला था। मृत्यु जीवन के अनुकूल ही हो सकती है। वह गान्धी जी की अर्जित मृत्यु थी, भगवान् की वरद मृत्यु थी। अकाल मृत्यु ? मुझसे उसे अकाल मृत्यु कहते नहीं बनता। भला फिर सकाल और धार्मिक मृत्यु क्या होती होगी ? जीवन सतत यज्ञ है। जिसका जीवन निरन्तर आहुति बनकर उजलता रहा हो, मृत्यु अंत में उसे पूर्णाहुति के रूप में ही तो आ सकती है।

कमरे में शव रखा था और लोग चारों ओर बैठे थे। रात-भर वह उसी भांति रखा रहा था और लोग बैठे रहे थे। किन्तु अन्त में शव को उठना था और सब को भी उठ आना था। क्योंकि जो शव में था, वह अनन्त में जा मिला था, और इस तरह अन्त में सबके अपने-पक्ष आ गया था। व्यक्ति तत्त्व हो गया था और वह सबके आत्म में पहुँच गया था। अब यही भवितव्य और कर्तव्य बचा था कि शव को फूँकें और अपने-अपने आत्म में उस तत्त्व को सम्भालें और सर्वोत्तम, जो कभी व्यक्त होकर व्यक्ति में मूर्त था और अब अव्यक्त होकर सबके निभृत में पहुँच गया है। व्यक्ति होकर कुछ का ही हो सकता था, किन्हीं के लिए अपना किन्हीं दूसरों के लिए ग़ैर। अब शरीर-सीमा की बाधा जो हट गई है, सो सब विश्व के अपनाने के लिए वह मुक्त हो सका है।

यह सब था और जानता था कि मर्त्य ही मरा है। और ऐसा होने से ही सुविधा हुई है कि जो अमर था वह सदा जीता रह सके। फिर भी मालूम हो रहा था कि सब खो गया है। अस्तित्व सत् जहाँ हुआ हो हुआ हो, हमारे लिए मानो लुप्त बन गया।

रह-रहकर कमरे में जाता और भौंकता। क्षण-भर ही उधर देख पाता। देख पाता कि भर आता और फिर मकान की लम्बी गैलरी में डग भरने लगता। सभी तो आदमी थे, बड़े से बड़े और छोटे भी। ये मकान में थे और बाहर भी असंख्य थे। सबका कुछ लुट गया था।

शरीर को क्या रख न लिया जाय ? वह तो अभी पास है। विज्ञान से उसे जितना स्थायी किया जा सकता हो उतना क्यों न कर लें ? अभी तो

दुनिया दर्शन को तरसेगी। उसके प्रति सद्य होकर क्यों कुछुन रोज के लिए इस काया को सुरक्षित रख लें ? एक प्रेम यह चाहता था और वह विचारवान था।

पर, विजय दूसरे प्रेम की हुई, जिसे जीते गांधी की याद थी और उसने कहा कि नहीं, जो जीता था वह मरे की पूजा न चाहता !

तब अर्थी उठी और सड़कों पर, मैदानों में, जितने समा सके आदमी साथ हुए और उसको भस्मीभूत कर आए जो आत्मीभूत हो गया था !